मुद्रक :
गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली।

प्रकाशक :
प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली
के लिये
साहित्य रत्न भण्डार, आगरा।

मूल्य— तीन रुपया

सूची

प्रकाशक की ओर से—

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और नाटककार श्री उदयशंकर भट्ट के नाटकों ने हिन्दी-साहित्य के इस क्षेत्र की पूर्ति में बहुमूल्य योग दिया है इसी कारण वे आज नाटक के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

विश्वामित्र, मत्स्यगन्धा और राधा—तीनों भाव-नाट्य कालान्तर से अलग-अलग प्रकाशित हो चुके हैं। इन भाव-नाट्यों की साहित्यिकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है और आलोचना-पुस्तकों और समीक्षा-लेखों में इनकी चर्चा भी हुई है।

इन नाट्यों की विषय-धारा विशेष रूप से नाटकीय तथा काव्य-प्रधान है। तीनों कृतियाँ कवि के कवित्वमय क्षणों और कल्पना के आवेश का परिणाम हैं और साहित्य-जगत् में सम्यग्तया समादृत हुई हैं। 'मत्स्यगन्धा' को तो कलकत्ता विश्व-विद्यालय की एम० ए० की परीक्षा के पाठ्यक्रम में निर्धारित करके विशेष सम्मान मिला है।

इसलिए इन समादृत काव्य-नाट्यों का समुचित प्रकाशन करने का हमने निश्चय किया है। विश्वास है कि इन तीनों पुस्तकों का एक साथ प्रकाशन पाठकों को रुचेगा।

विश्वामित्र

पात्र

विश्वामित्र

मेनका

उर्वशी

शकुन्तला

——

समय—सायंकाल

(हिमालय की तलहटी में देवदारु के वृक्ष के नीचे हिमासन पर विश्वामित्र तप कर रहे हैं। नाभि के नीचे तक लटकती दाढ़ी, बिखरी हुई जटाएं, अंग में एकमात्र कौपीन, प्रदीप्त और उग्र मुखमंडल। समाधि अभी खुल रही है। देखते हैं चराचर विश्व स्थिर है, केवल फुहार की तरह बर्फ झड़ रही है। दृष्टि तीव्र होते ही बर्फ गिरना बन्द हो जाती है। फिर मुस्कराते हैं, बर्फ गिरने लगती है। देखते-ही-देखते सम्पूर्ण शरीर हिम-पट से ढक जाता है। केवल दोनों नेत्र शारदाकाश में निकले दो चन्द्रमा की तरह चमक रहे हैं। धीरे-धीरे स्पष्ट ध्वनि में—)

मेरे तप का तीव्र तेज है बढ़ रहा
रविमण्डल को भेद ब्रह्म के शीर्ष तक,
फैला है आतंक जगत परमाणु में।
मिटा रहा हूँ सतत लिखावट भाग्य की।
जन्म-जन्म के संस्कार धुल-से गये
इतिहासों पर फिरी स्याहियाँ आज हैं।
पूर्ण हुआ है मेरा यह तप कठिनतम।

बुझ सकते रवि मेरे भृकुटि-निपात से
फट सकता ब्रह्माण्ड एक संकेत पा।
देववृन्द इन्द्रादिक की तो क्या कथा
ब्रह्मा पा संकेत सृष्टि रच दें अभी।
और स्वयं मैं भी तो....मैं क्या हीन हूँ ?
चाहूँ तो संसार चरण पर आ गिरे
और नये संसार बनें, नव काल हो,
नव रवि, नव शशि, खिलें फूल, दल, तारिका,
नव मानव, नव प्राण चाहते ही सकल
रच दूँ अपर विराट् ब्रह्म को मैं स्वयम्
रच दूँ हरि-हर और विधाता इन्द्र भी,
रच दूँ अभिनव स्वर्ग, नरक, पाताल, नभ;
रच दूँ मैं गन्धर्व, यक्ष, किन्नर सभी,
रच दूँ लीला हास किरण से तुरत ही
अरे, असंख्यों सुन्दर देवी, मानवी।
कौन शक्ति, अथ कौन चाह दुर्लभ मुझे;
नहीं मुझे अब कुछ भी है अज्ञेय जग
ज्ञेय तथा अति गूढ़ गिरा अभिसार-सा।

(कुछ सोचकर)

नहीं, अभी मैं फिर समाधि लूँगा गहन
जिससे हो यह विश्व वश्य मेरे सतत।

(समाधि में लीन हो जाते हैं, उर्वशी और मेनका नाम की दो अप्सराओं का प्रवेश)

उर्वशी—

अरी मेनके, इस सुन्दरतर विश्व में
जीवन-नौका मृदुल हृदय की आस-सी
घन-तड़िता-सी शनै-शनै अथ क्षिप्रतर
बहती भृकुटि-कटाक्ष-दण्ड ले काम का।
गाता कोई नहीं आज क्यों शून्य में
भर देता क्यों नहीं जगत को राग से
प्राणों में फिर एक बार अविराम मृदु
सौन्दर्य का एक अनुर्वर गीत है।
ताक रही हूँ इधर-उधर पाती नहीं
कोई भी आधार मुझे मिलता नहीं।
नभ का नीला हास, हरितिमा भूमि की
लेकर आशा जाल तानते जालियाँ
एक सूत्र में पिरो रहे उद्भ्रान्त हो।
मन्द-मन्द उल्लास नाचता है अधर,
छवि के कोने तोड़-तोड़कर कौन यह
बाँट रहा है महा-विश्व में आज यों ?
मेरी आशा वीथि किन्तु फिर शून्य क्यों
और प्रस्फुटित अंग-अंग सौन्दर्य के ?

दूर-दूर यह कौन निभृत, विस्मृत अथ च
भंग पद-क्रम नूपुर का बजता चला
और जर्जरित मन-मन्दिर में कौन यह
क्यों मुझसे ले प्यास छीन पीता सतत।
देख रही निःश्वास छोड़कर विश्व को
किंतु नहीं पाती हूँ कुछ भी आज तो।
मेरे वंचित हृदय-कोण में दीप यह
निर्निमेष जलता ही रहता ध्यान सा।
मैं पल-पल में लीन हो रही, दे रही
और ले रही कुछ अभिनव प्राचीन भी।
सुन्दरता के कतर पंख यह कौन है
फेंक रहा जो अन्धकार के कूप में ?

मेनका—

यह सब कुछ भी नहीं, जानती मैं यही
हृदय, प्रेम, आनन्द हमारी सृष्टि है।
क्षण-क्षण निर्मित होता है अनुराग यह
और व्याघ्र-सा काल लीलता है जगत।
हम अभिनव की एक मनोरम रागिनी
जिसमें स्वर माधुर्य उठ रहा है सतत
मंजु मूर्छना और ताल आरोह से
होता है उन्मत्त हृदय जड़ विश्व का।

नव कलिका का मधुर रूप पीकर सदा
झूम रहा क्या नहीं पवन उद्भ्रान्त-सा ?
किसलय पर उन्मुक्त बिन्दु नीहार का
नाच रहा क्या नहीं हिलोरें भर हृदय ?
ये वासन्ती सुरभि नचाकर वल्लरी
पंखुड़ियों के स्फीत हृदय को खोलती
भर देती आनन्द उदधि से जगत के
रोम-रोम में प्राणों का मद ढाल कर।
रवि को देख, सहर्ष शाम की रक्ततम
पुलकित फुल्ल कपोल-पालि को चूमकर
मद बेसुध-सा हुआ जा रहा है सखी,
अपने ही को भूल-भूल सुख साध में।

(विश्वामित्र की ओर देखकर)

यह क्या, यह क्या, उठा हुआ हिम-पुंज-सा
जीवित, मृत या नराकार कैसा सखी ?

उर्वशी—

होगा कोई अरी, हमें क्या, आ चलें
अपने ही से मिलता कब अवकाश है।
हम तो यौवन की हिलोर ले मोद-सी
सौन्दर्य के उदधि नाव हैं खे रहीं।

(दोनों पास जाकर)

मेनका—

ज्योति-पुंज यह लीन तपोनिधि कौन है,
जीवित मृत्यु समान शून्य निस्पन्द गति,
पृथ्वी पर आच्छन्न भस्म से ज्योति-सा,
अवगुण्ठित-सा हिम-रज का परिधान ले ?
मैं सुनती थी यहाँ घोर तप कर रहा
कोई लिये समाधि एक चिरकाल से !

उर्वशी—

हाँ, हाँ, आया याद कर रहे इन्द्र थे
करते विश्वामित्र घोर तप विपिन में
लोक-विजय के लिए साध ले हृदय में
यह भी कोई काम भला, तू ही बता
जीवन का आमोद सौख्य सब छोड़कर।

मेनका—

आशाओं का अन्त नहीं है सखि यहाँ
सागर से भी बड़ी, भूधरों के शिखर—
से भी ऊँची, रवि से अतितर तीक्ष्ण हैं।
इस आशा में बहा जा रहा विश्व है।
भुज-बल, पशु-बल और आत्म-बल ले महान्
यह नर करना चाह रहा है विजय जग।
किन्तु जानता कौन भावना का उदय

कब आकर कर डाले मानव को पतित।

उर्वशी—

मैं करती हूँ घृणा मनुज से इसलिए
जग का साधन हमें बना सुख ले रहा।
क्यों न आज तक कभी 'इन्द्र' नारी हुआ
है उसमें किस भाव और बल की कमी?
क्यों न विष्णु की जगह रमा उल्लेख्य हो
क्या सावित्री में न रहा बल है कभी?
किन्तु नहीं, नर अपनी गुरुता के लिए
सब पर शासन करने की धुन में लगा।

मेनका—

क्या सचमुच हम नर की समता कर सकें?

उर्वशी—

यह ज़ड़ विश्वामित्र अधिक बलवान बन
क्या न नचावेगा हमको यदि इन्द्र हो?
तब हम इसका पाते ही संकेत-बल—
गावेंगी, नाचेंगी अर्पित कर स्वतन।
जब नारी, नर दोनों ही से सृष्टि है,
एक बड़ा, छोटा हो क्योंकर दूसरा!

मेनका—

यद्यपि हममें नहीं भुजा का बुद्धि का

बल, तो भी तो एक हृदय-बल पास है।
जो मानव को दुर्लभ दुर्लभतर अथ च
वही प्रेम-बल आद्य शक्ति ने है दिया।
सौंदर्य औ' रूप हमारे अस्त्र हैं
जिसके वश त्रैलोक्य नाचता है सखी,
यदि चाहूँ तो अभी तपस्वी को उठा
नाच नचाऊँ जड़ पुतली कर काम की।

उर्वशी—

यह सम्भव है नहीं, असम्भव है सखी,
वश करना इस क्रूर मनुज को है कठिन।
यह कच्ची मिट्टी है चाहो लो बना
किन्तु अन्त इसका पत्थर से भी कड़ा ;
यह लोहा है जो न पिघलता सहज ही
और सहज ही फिर होता है अति कठिन !

मेनका—

अरी, 'अहं' ही इसकी कच्ची नींव है,
और स्वार्थ के सोपानों पर चढ़ रहा।
जिस पर है कंकाल मनुजता का खड़ा
गिर जाता है एक ठेस खाकर वहीं।
आज नचाऊँ क्षुद्रजीव को नाच मैं
और दिखा दूँ नर में क्या कमजोरियाँ।

उर्वशी—

क्यों श्रम यह फलहीन कर रही है सखी !
तेरे वश का नहीं समाधि-त्याग तक !

मेनका—

मुझे नहीं इससे है कोई द्वेष सखि,
और असंख्यों तापस करते तप यहाँ
किन्तु मेनका केवल इस ऋषि को यहीं
वश कर दिखला देगी, नारी कौन है !

उर्वशी—

नारी प्राण-विहीन चेतना से रहित
एक भावना-पुंज, पराई आस है।
जो साधन है जग में मानव सौख्य की
सुखहीना है स्वयं, अपर का सुख सदा।
वह विलास-स्वच्छन्द पुरुष के प्राण की
मदिरा, जिसको स्वयं नशा होता नहीं।
औरों के ही लिए हृदय है, बुद्धि है,
मन है, प्राण, शरीर, कर्म है, धर्म है।
है समग्र यह शिथिल विश्व का रूप यह
और विधाता के प्रमाद का फल यही।

मेनका—

नहीं, नहीं, यह कैसे कहती हो सखी,

वह सत्ता है कोमल जग के तत्त्व की
और कल्पना सहज विधाता हृदय की,
रुचिर सहचरी रूप-सुधा का प्राण है।
मानव के नैराश्य-पुञ्ज में दीप की
ज्योति शिखा है, नारी, नर की चाहना।
यदि इस जग में नर है बुद्धि विवेक तो
नारी कोमल हृदय तन्तु की स्फुरणा।
यह मद का कादम्ब, प्रेरणा विश्व की।
कान्ति, ज्योति सौरभ की सुन्दर मूर्ति है।
आज उन्हीं कुछ शक्ति-कणों को ले हृदय
नारी भृकुटि विलास लास्य करने चला।

उर्वशी—

जीवन का सब प्रेम आज देकर तुझे
कण कण का आह्लाद नाचने-सा चला।
यदि नर का हो सतत पराभव भृकुटि से
रोम-रोम की जलन सुधा सरिता बने।

मेनका—

मैं न घृणा करती हूँ नर से हे सखी,
वह तो मेरे रूप हृदय की प्यास है।
जिससे जीवन तत्त्व बह रहा है सुखद
और हृदय की सीमाओं को छू रहा।

मुझे प्रेरणा करता है कोई यही....

उर्वशी—

श्वास साधकर देखेगी नारी यही,
प्रतिबिम्बित होता है कैसे नर हृदय
प्रतिचित्रित होती है कैसे भावना
प्रतिलक्षित होती हैं नर में नारियाँ ?

(उर्वशी का प्रस्थान)

मेनका—

ओ, नारी के उज्वल प्रेम विभोर जग
ओ मंजुल पंखुड़ियों के मृदु हास मधु,
ओ, पृथ्वी की श्यामलता औन्नत्य हे,
भूधर की अति दृप्ति, चंद्र के हास ओ,
रजनी के उन्माद, तारिका के नवल
मन्द-मन्द आलोक बुलाती हूं तुम्हें,
ओ सुमनों के मकरन्दों से स्नात हे,
वासन्ती के अमर अचल, अंचल, अखिल
आओ, मेरे मूर्त श्वास में बस चलो ।
आओ, शरदाकाश धवलिमा धूत जग,
आओ, यौवन-गर्व दर्प कंदर्प हे,
उठो, उठो भर दो वसुधा में सूक्ष्म-सी
और स्थूल-सी, मृदु-सी, लघु-सी, महत्-सी,

यौवन के सौंदर्य उदधि की मधुरिमा।
आओ, मेरा भ्रू विलास मुसका रहा
नारी का मृदु गर्व सरित की लहर-सा।
(वसन्त का प्रवेश)
तुम आये हो मादक मेरा विश्व ही
उठ आया हो मानो मीठी साध-सा।

वसन्त—

मैं नारी की एक कामना मूर्त हूँ।
मैं उसकी उल्लास वल्लरी का कुसुम,
मैं उसके प्राणों का अक्षय औ' अचल
तृप्तिहीन आवाहन मुखरित मंत्र हूँ।
तुम हो प्राण, विलास तुम्हारा मैं प्रिये,
तुम हो भृकुटि, कटाक्षपात मैं मधुरतर।

(२)

(मेनका देखती है—वह सम्पूर्ण भूभाग एकदम बदल गया है, आकाश में पूर्ण चन्द्रमा निकल आया है, सम्पूर्ण भूमि हरी-भरी हो गई है। वृक्ष, पौधे, लताएं लहलहा उठी हैं, फूल हंसने लगे हैं, सुरभि से सारा वन-प्रदेश महक उठा है, दिन और रात का भेद भूलकर भौंरे झुण्ड-के-झुण्ड पुष्पों पर टूटे पड़ते हैं। पृथ्वी अपने वैभव को चूमने के लिए हरी घास के द्वारा रोमाञ्चित हो रही है, चन्द्रमा किरणों द्वारा नीचे की ओर झुका पड़ता है।)

मेनका—

निश्चय, निश्चय यह अनंग का सैन्य-बल
औ' अनंग वह मेरा भृकुटि कटाक्ष है,
वह है भू पर मूक नियति के हास-सा
अस्थिर चंचल एक हृदय की ऊर्मि ही।
जिसके साधन-बल से मैं गर्वित हुई
प्राणों का उपहार चढ़ाती जगत को।
यौवन, विधु की किरणों के उल्लास बन
फूल उठो, वसुधा में भर दो, प्रणय का
अभिनव सागर, मानस में नर के उठो?
भूल जाय जग धर्म, कर्म का मर्म सब
भूल जाय उद्दाम तेज, तप तीव्र भी,
भूल जायँ आचार, नीतियाँ, रूढ़ियाँ,
औ' समाधियों में नर के हो एक अति
प्रणयी का अनुराग, राग-सा बह चले।
सागर उफने चन्द्र किरण को देखकर
तरु वल्लरियों के वितान से लग्न हों
नर नारी के प्राण एक हो गा उठें
अन्तर का मृदु मंजु-मंजु मंजीर रव
एक-स्वर होकर वसुधा पर वह उठे
प्राण प्राण में मानव के मद की सरित।

मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली।

तार गर्जन मन्द्र गर्जन

दामिनी के हाथ निज धन

कर रहे अर्पित जलद तन

नाच देता पवन ताली

मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली।

चन्द्र की किरणें उतरकर

चूमती हैं लहर का स्वर

उड़ रहा है ज्वार सागर

घूँट में पीने उजाली

मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली।

एक ध्वनि हो, एक लय हो

प्राण यह, प्रिय प्राणमय हो

राग में हँसता प्रणय हो

थाह फिर किसने न पा ली

मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली।

सृष्टि सारी उर्वरा हो

हृदय का भूतल हरा हो

प्रणय-मद-सागर भरा हो

भर पिलाऊँ प्यार-प्याली

मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली।

(२)

(मेनका देखती है, उस भूभाग पर एक तीव्र मादकता छा गई है। इधर पंख फड़फड़ाकर चौकन्ने-से हो उठने वाले हंस की तरह विश्वामित्र के शरीर से हिम-कण हिल-हिलकर पृथ्वी पर गिर रहे हैं। ऋषि एकदम आँख खोल देते हैं। आँखों से पहले विस्मय, फिर क्रोध, फिर वितर्क, फिर आह्लाद और प्रेम का नशा-सा झलकने लगता है। सब ओर देखकर सिहर-से उठते हैं।)

स्पष्ट ध्वनि में—

मेरी मूक समाधि और तप से सजग
होकर भरती कौन राग की उफनती
नव स्वर्गिक संगीत सुधा अति वेग से ?

(चारों ओर देखकर)

हैं, यह कैसा हुआ मंजु कान्तार है ?
कैसी है उद्दाम पुरानी सुखद-सी
स्मृतियों की अति वेगमयी चल चित्रिका।
कैसा होता आज, घुल रहा है निखिल
मेरे तप का नभचुम्बी भूधर इधर
और बहाता जाता सब करके सलिल
एक वेग से किसी मनोरम धार में।

(मेनका की ओर देखते हैं।)

अरे, अरे, तुम कौन, मंजु, मृदु, कल्पना
विधि की, हरि की, सुरपति की, या प्रकृति की,
रति की, रतिपति की, महान् की, सूक्ष्म की,
कौन, कौन, तुम कौन, यहाँ क्या कर रही
मेरे अन्तर रोम-रोम में लीन हो ?

मेनका—

(अनसुनी करके)

किरण चन्द्र में लहर सरित में खेलती,
कलिका में मृदुहास, पवन में मन्द गति,
हूँ फुहार में मेघ, वृष्टि में दामिनी,
चमक। चपल यौवन में हूँ मैं उग्र मद।
रति अनंग में, सुन्दरता में रूप हूँ।
रागों में ध्रुव, सुखद भैरवी रागिनी।
लय में हूँ आरोह, प्राण में श्वास हूँ।

(गाती हुई)

आज इस पावन विजन में
प्राण में उत्क्रान्ति-सी भर कौन गाता, मूक मन में
आज इस पावन विजन में
सुरभि भीनी माधवी की लिख रही है गीत मन में
पढ़ रही हैं तारिकाएँ हृदय की गाथा सुमन में
आज इस पावन विजन में

मूक मारुत दे रहा सन्देश कलियों का भ्रमर को
चूमती हैं चन्द्र लहरें उतर धीरे से अधर को
भिर रहा भर-भर निशा उल्लास यौवन-अलस तन में
आज इस पावन विजन में

विश्वामित्र—

मैं अत्युन्नत भव विवेक आलोक रवि
पोर पोर में जिसके विश्व विबुद्ध है।
गोलक-सा ब्रह्माण्ड भृकुटि के पात से
निर्मित होता है क्षण-क्षण में श्वास से।
कौन कहाँ से आया जलता दीप लघु
मुझ रवि के सम्मुख सत्ता क्या दीप की ?
कौन कौन री तू नारी, क्या कर रही ?

मेनका—

अरे, अरे, तुम मुझसे ही कुछ कह रहे,
जटा विलासी, मैं न जानती समझती
एक ढेर से मिट्टी के तुम कौन हो ?

विश्वामित्र—(क्रोध से)

क्या तू मुझको नहीं जानती वज्रमति,
मैं हूँ विश्वामित्र, प्रतापी, महामुनि,
मैं चाहूँ तो क्षण में ही नव सृष्टि कर
तुझ जैसी उत्पन्न करूँ शत नारियाँ !

क्या है तुझको कार्य यहाँ क्या कर रही ?

मेनका—

होंगे विश्वामित्र, मुझे क्या, सो रहो
चक्षु गोलकों में समाधि का सिंधु भर
और 'अहं' का आस्वादन करते रहो
श्वान-क्षत सम चाट-चाटकर रुधिर निज !
मैं तो मंजुल स्नेह सुरभि सम विहरती
रहती हूँ उद्दीप्त विभा सी, लहर सी।

विश्वामित्र—

हे निर्लज्जे, साहसिके, मन्दानिले,
मेरे सम्मुख मेरा ही अपमान तू
करने आई है मशकी-सी तुच्छ मति ?
महत्तपस्वी मैं हूँ युग निर्माण कर,
रच दूँ सारा विश्व अभी क्षण में नया।
ठहर ठहर, रे आँखों से क्यों खेलती
खेल अनूठे, वाणी के रस के मधुर,
जाने जाने क्या सोता-सा जागता
तुझे देखकर मन में लहरें उठ रहीं।

मेनका—(तीक्ष्ण कटाक्ष करके)

मैं क्यों तुमको देखूँगी सोचो भला
क्या मुझको है काम नहीं कुछ भी कहीं ?

मैं तो तितली हूँ उड़ती प्रति पुष्प पर
और छमकती, छनन छनन छन नित्य ही
(इसके साथ ही नाचती है ।)
मैं तो विद्युत मेघ पुरुष की प्रेयसी
नाच रही हूँ बन्धन मुक्त प्रमत्त सी
ताक रहे हो मुझे फाड़कर आँख क्यों
ताक रहे हो मेरे अंग अनंग क्यों ?
यह क्या, यह क्या अरे छू गई बिजलियाँ,
रंग बदलते गिरगिट सा क्यों जा रहे ?
क्या मेरी आँखों में झरता गरल है
या कि सुधा जिससे मर कर तुम जी रहे ?
मेरे घट पीयूष छलकते क्या तुम्हें
करते हैं आकृष्ट, हो रहे मुग्ध क्यों ?

विश्वामित्र—

नहीं, नहीं, मैं स्वयं ब्रह्म ज्ञानी स्वयं
होता मुझको कभी न कोई वेग है।
(मेनका नाचती-नाचती दूर चली जाती है ।)
चलूँ चलूँ मैं फिर समाधि लूँ मग्न हो
और विभव को मुट्ठी में करलूँ सतत
जीवन के कटु रूप, प्रणय, सौन्दर्य को
दास बना लूँगा आजीवन के लिये

मैं प्रवाह हूँ महाप्रलय का प्रखरतर
जिसे रोकना नहीं किसी को शक्य है।
किन्तु देख पड़ता है कैसा विश्व यह
कैसा उज्वल भाग जगत का यह अहो!
समझा, कैसा यह प्रकाश सुन्दर, सुखद
प्राणों को अभिषिक्त कर रहा जो सतत
अरे, भूलता रहा, प्रेम ही प्राण है।
प्रेम हृदय का उर्वर सृष्टि-विलास है।
भूल गया हूँ मैं भी था तापस कभी
तापस, नीरस जीवन की लघु प्रेरणा
जिसमें ईश्वर नहीं, 'अहं' का वास है
स्वयं 'ब्रह्म' होने की मीठी कामना।
तुम भी तो हाँ, स्वयं ब्रह्म आनन्द हो
जाग्रत अथ प्रत्यक्ष कल्पतरु विश्व की।
आज बदल है गया सभी जो लक्ष्य था
प्रेमानंद प्रवाह पुलक में मग्न हूँ।
सुनो, तुम्हीं हो रोम-रोम की कामना
रोमांचित प्राणों की संचित साध-सी
मेरे तप से, जप, समाधि से ध्यान से
सुन्दर यह मुस्कान तुम्हारी दीखती
कई सृष्टियाँ कई योग, तप वार दूँ।

यह समस्त संसार तुम्हारी चरण-रज।
(मेनका की ओर बढ़कर और फिर ठहरकर)
हा, कितना अपलाप तपस्वी-वृन्द का
विष्णु रमा के साथ, विधाता खेलते-
सावित्री के साथ, सदा हर-पार्वती
रहते हैं संलिप्त भोग-वैभव-निरत,
जलचर, थलचर, खेचर भी अतितृप्त हैं
अपने ही जीवन में खोये-से सदा।
नर-नारी ही प्रकृति-ब्रह्म है वस्तुतः।
किन्तु न जाने क्यों तापस संसार यह
भूल रहा प्रत्यक्ष सुखों को त्याग कर।
तप की केंचुल त्याग हृदय है उफनता
प्रिये, तुम्हारे विश्व मूर्त को चूमने।
(मेनका प्रकट हो जाती है, ऋषि आलिंगन को बढ़ते हैं।)

मेनका—

हे मुनि, यह क्या, अरे, तुम्हें क्या हो गया
तुम प्रबुद्ध, ब्रह्मज्ञ, महामुनि, भूलते ?

विश्वामित्र—

क्या सचमुच ही, नहीं नहीं यह भूल है
सब प्रपंच 'अध्यात्म', एक तुम सत्य हो।
यह सौन्दर्य समग्र सृष्टि का मूल है।

तप का फल भी स्वर्ग-प्राप्ति ही है सुखद ।
स्वर्ग, स्वर्ग क्या सौन्दर्य से, प्रेम से,
हृदय-साध का लय हो जाना प्राण में ।

मेनका—

किन्तु, नहीं है स्थायी मुनिवर कुछ यहाँ
यह दो दिन का स्वर्ग—

विश्वामित्र—

(कुछ सोचकर) स्वर्ग क्या झूठ है ?
क्या न सुखों का अपने में अस्तित्व है ?
'कुछ भी स्थायी नहीं' कह रहा भ्रांत जग
नश्वर इस जग में है स्थायी कुछ नहीं ।
तप का क्या अस्तित्व स्वर्ग का भी नहीं
जिसके हेतु समग्र पुण्य करता जगत ।
आज समझ पाया हूँ मैं तो सार क्या
मुझ तृषार्त्त का भर दो निज मद से हृदय
पीऊँ शत शत जीवन यह सौंदर्य-मधु ।

मेनका—

मैं सुमनों की हृदय-कहानी सुन रही,
मैं कलिका के ओठों पर मधु छिड़कती
प्रात वात के उष्ण श्वास पीकर मदिर
अपने ही में भूल रही बेसुध बनी ।

मुझे न नर से कोई भी कुछ काम है।
जाओ, हम तुम दोनों ही अति दूर हैं
जाओ, जाओ, मैं कुछ सुन पाती नहीं।

(गाती हुई)

ताल भूली रागिनी हूँ साज मेरा शिथिल-सा, री।
मन्द मारुत मलय मद ले निशा का मुख चूमता है
साध पहलू में छिपाये चन्द्र मद में झूमता है
कुसुम चषकों में किरण रस भर धरा मद पी रही है
उड़ रहा जग श्वास के रथ, आस आँसू-सी रही है
कमल के मकरन्द में पीता भ्रमर मधु कल्पनारी
ताल भूली रागिनी हूँ साज मेरा शिथिल-सा, री।
हृदय-जग के क्षितिज लाली में नहाकर उड़ गये नभ
औ' जला चिर साध अपनी तारिकाएँ बन गये सब
छू रहीं वे दूर से ही आज मेरी धड़कनों को
किशलयों के चपल नर्तन पर थिरकते अलिगणों को
विश्व के उल्लास में क्या है न मेरी ही खुमारी,
ताल भूली रागिनी हूँ साज मेरा शिथिल-सा, री।

(एकदम अन्तर्धान हो जाती है।)

(४)

(कामातुर, विरहाग्नि से दग्ध ऋषि उन्मत्त की तरह खड़े हैं।)

विश्वामित्र—(बैचेन होकर)

अरे, प्राण की निखिल ज्योति कम्पित हुई
रोम-रोम में विस्मृति की लहरें उठीं
स्मृतियों पर चित्रित करतीं-सी राग को
घोर नशे-सी झूम रही हो नेत्र में
अरे, अग्नि-सी सुलगाकर इस देह में
कहाँ गई ओ काम-भृकुटि-चल-भंगिमे !
प्राण, हृदय, बल सभी खींचकर देह का
मूर्च्छित को मृत, मृत को करने भस्म-सा।
तीव्र महामद विश्व-पात्र से झर रहा।
चली गई विस्मृति, अतीत-सी, त्याग-सी,
पलसी, घटिका, दिवस, रातसी, वर्षसी,
युगसी, जीवनसी, वेलासी, प्रगतिसी,
हृत्कम्पनसी, श्वास-श्वाससी, आससी,
मूक रुदन के लिए अकेला छोड़कर।
ढूँढूँ-ढूँढूँ; अरे प्राण को, हृदय को,
धड़कन को, जीवन को; संचित साध को,
नभ में; नभ के छोर पिण्ड ब्रह्माण्ड में !
भूला, सुमनों के समय चर का रूप धर
शुभ्र चन्द्रिका से मिलकर अति वेग से
हिम-कण के उल्लसित गर्व पर उड़ रहे

तुम्हें खोजने विरह-वह्नि की ज्योति ले।
आओ, मेरे हृदय-कुण्ड में हे प्रिये,
विरह-वह्नि के नभचुम्बी स्फुल्लिग में
निज-करुणा की आहुति डालो, डाल दो
दुख मेघों से त्वरित पाट दो प्राण मम।
(घूमकर) देख रहे हैं, देख रहे हैं प्राण शत
शत नेत्रों से मंजु मनोरम मूर्ति तव ;
तरु में, किसलय में, सुपुष्प मकरन्द में,
अलि-गुंजन में, पवन प्रसर में, ओस में,
धवल चन्द्र में, तारक-दल के हास में,
मानव की उल्लास-राशि में, प्रणय में,
स्वर में, लय में, राग-राग आरोह में,
अवरोहों में और मूर्च्छना में निखिल
तुम्हें, तुम्हें ही, एक तुम्हें अभिसारिके ;
(पागल-से होकर)
तुम यह, तुम वह, यहाँ, इधर ही तो खड़ीं,
उधर चलूँ क्या, नहीं शिखर पर हँस रहीं,
और गा रही गीत सुनाई पड़ रहा
नहीं, नहीं, तुम वहाँ नहीं, तुम हो कहाँ ?
बोलो, बोलो, हृदय कम्प, बोलो तनिक,
ओ प्रकाश इस नेत्र तारिका की मधुर,

(आँख बन्द करके बैठ जाते हैं।)

बाहर हो तुम नहीं हृदय में छिप रही
आँखों में ही झूम रही हो क्यों प्रिये ?
किन्तु आँख में छिपी हुई को पकड़ लूँ
दिये नहीं कर हाय, विधाता ने मुझे ?
थिरको, नाचो, श्वासों के कंकाल पर
तुम्हें पा गया, आहा यह तापस प्रिये ?
तापस छिः मैं नहीं, रसिक हूँ, रसिकवर।
अरे, किन्तु यह क्या, यह क्या, मैं कह रहा ?
छल-सी आकर गई, छद्म-सी छिप गई ?

(आँखें खोलकर)

हैं यह कैसा हुआ, हृदय यह क्या हुआ ?
अरे, क्या हुआ अणु-अणु क्यों बेचैन है ?
हृदय काँपता, धड़कन उड़ती जा रही
श्वासों के सँग नभ में पंख समेटकर
अन्धकार है लहर लहर-सा झूमता
लहराता है तिमिर चन्द्र की कान्ति में
पल-पल पीता जाता है आलोक की
शिखा, शिखा के छोर तिमिर को छू रहे
अभिनव सब उद्भ्रान्त हुआ प्रलयान्त भी।
जीवन, जीवन मृत-सा मेरा हो गया।

एक स्पर्श पा पवन उड़ रही वेग से
वेगों में उद्वेग भरा-सा जा रहा—
उद्वेगों में शून्य, शून्य में हृदय है
और हृदय में आस शून्य ने ली निगल।
अब क्या पाऊँ, पाने को क्या रह गया ?
ओ नभ, प्रलयी आग डाल दे विश्व पर
छार-छार हो मेरी सुषमा का जगत।
फूल शूल हैं हुए, वसन्ती यह पवन
अग्नि-दाह-सी फूट पड़ी है विश्व में।
मानव, तेरा अन्त यही क्या सच, यही,
भूल गया हूँ मैं अपनापन आज तो ?
एक आग सी धधक उठी है विश्व में
आशाएँ जल उठीं, जले हैं रोम भी
कुछ भी कोई नहीं, विरह है, आग है।

(इधर-उधर घूमकर)

इन गुलाब की पंखुड़ियों पर हँस रहा
प्रिये तुम्हारा स्मय, विस्मय को चूमकर।
चम्पा की मकरन्द सुधा में उड़ रही
मुग्ध हृदय की मृदुता, कोमलता, सरल
अल्हड़पन, मस्ती, मादकता, बेसुधी
कण-कण में फूटा-सा यौवन झूमता।

गेंदा क्षण-क्षण पीला होता जा रहा,
शतदल उसकी शत ही शत आँखें हुईं
तुम्हें खोजने हेतु। दृषद् भी हा, पिघल
रोते से वह चले आग मन में लिये
एक तुम्हारी गीति तान से होड़कर।
आज हमारे रोम-रोम वाणी हुए
औ' पुकारते ढूँढ रहे हैं विश्व में।
रोम-रोम में जाग उठी है प्यास-सी।
भूधर, सागर, हिम, तारे, शशि, सूर्य से,
रंग-बिरंगी प्रकृति, मरुत्, मकरन्द से,
मद से, मानव के समुद्र से, मोद से,
हृदय, प्रेम से बड़ी तुम्हारी प्यास है।
मेरे अन्तर श्वास सजग बन, मूर्त बन
ढूँढ़ रहे हैं तुम्हें धरा के गर्भ में,
रवि-प्रकाश में, शशि-विलास, नक्षत्र में,
विश्व पिण्ड में, तल में, नभ में, महत् में
तम में, यम की दाढ़ों में उद्भ्रान्त-से।
नहीं मिलोगी—

(बेचैनी से घूमते हुए)

फिर जीवन में साध क्या,
जीवन ही क्या, मरण-मरण ही तो भला,

ओ अन्तर फट, हृदय बिखरकर टूक हो।
प्रेम जलो, आशाओ दहको आग-सी,
स्नेह-सूत्र टूटो, फूटो औ' आँख भी।
ओ वियोग, तेरा ही जीना हो सफल।
हाय अँधेरा हुआ तिमिर ही तिमिर है
कहीं नहीं आलोक-शिखा दिखती अरे !
अब तो मृत्यु समस्त श्वास की साध है।

(एकदम एक शिला-खण्ड से गिरने लगते हैं, इसी बीच में मेनका हाथ पकड़कर रोक लेती है।)

मेनका—

ओ सुन्दर, तुमसे ही जीवन सफल है !

विश्वामित्र—

हटो, कष्ट का पुंज आज जीवन हुआ।

मेनका—

मैं ही हूँ वह जिसे खोजता प्राण था।

विश्वामित्र—

(पीछे मुड़कर और ध्यान से देखकर)

मरणासन्न उसाँस तुम्हीं हो क्या प्रिये,
या प्राणों की चाह मूर्त बन आ गई ?
या आँखों में बसी हुई हा मूर्ति वह
ज्योतिहीन आँखों से बाहर हो खड़ी ?

मेरी संचित साध हृदय की तुम यहाँ ?
स्वर्ग-सुधा तुम, क्यों इतना कटु फल हुआ ?

मेनका—

प्रिय, 'वियोग' से सभी 'अहं' मल धुल गया
औ' अभाव जब दुःख सुधा का। क्यों न हो।
फिर मानव के हृदय भाव की कामना।
हृदय, प्रेम-कादम्ब पियो आकण्ठ तक।
नारी सुधा, पिपासाकुल नर की सुखद
शुभ्र प्रेम की मदिर-हृदय की चेतना।
ओ मानव, तुम कितने सुन्दर मधुर हो।
कितने ऊँचे हृदयवान, जाना न था
कितने मीठे औ मादक, भूली रही।

विश्वामित्र—

जीवन की 'इति' में 'अथ'-सी तुम आ मिलीं
ओ रमणी, संसार तुम्हीं हो जगत् का,
मैं अज्ञानी मूढ़, भूल-सा था गया।

मेनका—

नारी स्नेहाधार सत्य ही है मनुज !

विश्वामित्र—

यदि नारी मद है कठोर यह नर 'चषक'।

मेनका—

(हँसकर)

अरे, नहीं मानव मद की है प्यास ही
यह नारी के सुखद स्वप्न के जगत् में
हँस जाता आँखों में आकर जब कभी
और भुलाता सुन्दरता का गर्व है!
यौवन की उत्कट इच्छा में झाँककर।
क्रोध, मान, अपमान, भर्त्सना, ताडना
कहाँ, न जाने कहाँ भाग जाते सभी
और हृदय पानी-सा होकर सतत ही
बहने लगता है प्रवाह में, प्रेम में
ओ प्रिय, ओ प्रिय....

(एकदम ऋषि का आलिंगन करके आँखें बन्द कर लेती है।)

विश्वामित्र—

मधु-सर-फुल्ल-सरोजिनी!
नारी नर का प्राण, हृदय है अमित छवि
जीवन की गति, ओज, मधुरता मद मुखर—
वाणी, श्वास विलास, जगत है साध है।

(आलिंगन के आनन्द में दोनों ही विभोर हो जाते हैं।)

(५)

बारह वर्ष बाद

(मेनका की गोद में एक बालिका है, जो कभी-कभी आँखें खोल

देती है, कभी अपने-आप हंसने का प्रयास करती है। भोला मुख प्रशान्त श्वास, कोमल शरीर, मानो शैशव सशरीर जीवन में उतर आया हो।)

मेनका—

(बालिका की ओर प्रसन्नता से देखकर आवेग और उल्लास से)

आज बदल जड़ गया जीवनोच्छ्‌वास में।
मान, घृणा, अपमान, कसक, वात्सल्य में
परिवर्तित हो मानो हँसने ही लगे।
जीवन क्या यह इतना सुन्दर स्वच्छ है
इतना सुन्दर क्या विलास का फल मधुर!
आँख खोलकर देख रही यह विश्व को
और विश्व भी विस्मित-सा जड़ मुग्ध-सा
देख रहा है प्रेम, कामना, साध को
मेरी, मेरे प्रिय की छवि में लीन हो।
भूल गई, मेरा भी कोई स्वर्ग था
और स्वर्ग की मैं रानी थी, गीतिका।
सुरपति की आँखों की चंचल तारिका।
मूर्त नृत्य की छम-छम करती ध्वनि मधुर
गायन की उन्मुक्त स्फूर्ति-सी प्राण सी।
अरे सजीवित चित्र-कला की तूलिका।
भूली, गन्धर्वों की लय में प्राण का
मन्द-मन्द संचार, चारुता, रुचिरता;

मैंने जाना नहीं जगत इतना मधुर
अपना कम्पित हृदय दूसरा देखकर।
है पावन यह प्रतिमा ईश-विलास की
उतरा आकर विश्व-स्वर्ग इस देह में।
मृदुल सरलता, शोभा, सुख, शैशव सभी
चूम रहे हैं झूम-झूम झुक श्वास को।
और भूलते-से जाते निज रूप को,
कर्म क्रिया को विश्वजयी स्मय देखकर।
जीवित जाग्रत एक खिलौना विश्व का
तू मेरी सम्मान, साधना, कामना,
तू मेरा अभिमान, रूप, छवि-मल्लिका,
रति की सुन्दर धड़कन मानो मूर्त बन
किसी स्वर्ग से उतर आ गई भूमि पर।
इसके सम्मुख स्वर्ग, सुधा, सुख, हेय है
हेय, मान, सम्मान, ज्ञान, अपवर्ग भी।
(आवेश में आकर बालिका का मुख चूमने लगती है।)
देखो, ऋषि देखो, हम दो का स्वर्ग यह
भोला छल-बल-हीन, मधुर पीयूष-सा।
विश्व वार दूँ स्वर्ग वार दूँ सैकड़ों
होता है जी अनुपम छवि को देखकर
श्वासों का कौषेय उढ़ाकर ले उड़ूँ

नभ में शशि का गर्व तोड़ने—

(विश्वामित्र का प्रवेश)

विश्वामित्र—

दैव हा !

गरल अमृत के धोखे में मैं पी गया।

(उर्वशी का प्रवेश)

उर्वशी—

गरल अमृत के धोखे में तू पी रही।

विश्वामित्र—

मणि के भ्रम में काँच-खण्ड लेकर चला।

मेनका—

प्रिय, यह क्या; ओ सखी, अरी क्या कह रही ?

विश्वामित्र—

हाय, सत्य से अनृत बदलकर हँस रहा
क्या इतना अपलाप तपस्वी का हुआ ?

उर्वशी—

यह सब कुछ भी नहीं जानती, मैं यही
हृदय, प्रेम, आनन्द हमारी सृष्टि है।
क्षण-क्षण निर्मित होता है अनुराग यह
और व्याघ्र-सा काल लीलता है जगत्।
भूल गई क्या अपने ही उद्देश्य को

भूल गई क्या जीवन की मृदु रागिनी ?

मेनका—

अरी उर्वशी तू यह सब क्या कह रही,
भूल गई हूँ मैं तो अपना पूर्व प्रण,
अपना ही उल्लास छलकता देखकर
प्राण प्राण में उदित हुआ नव विश्व है।
मुझे चाहिये नहीं इन्द्र का राज्य भी
फुल्ल कुसुम-सी सुरभि मत्त यह बालिका
नव जीवन आलोक दीप्त लघु-तारिका
इससे बढ़कर कौन स्नेह का कोष है ?
अंग अंग से पूत प्राण की झलक ले
हम दोनों की सृष्टि रची है ईश ने।
मेरे सुख का स्रोत आज बन पुष्प फल
आ उतरा है धरा धाम पर स्वर्ग-सा
नहीं, नहीं तू जा मैं तो हूँ मग्न-सुख,
मग्न-हृदय-अभिराम, कल्पना-नर्तकी।

उर्वशी—

भूल गई है अरी मेनके, आज तू
क्या करना था तुझे कर रही और क्या !
'मुझे नहीं इससे है कोई द्वेष सखि,
और असंख्यों तापस करते तप यहाँ

किंतु मेनका केवल इस ऋषि को यहाँ
वश कर दिखला देगी नारी कौन है ?
भूल गई ये वाक्य और प्रण जो किये ?
(उर्वशी चली जाती है ।)

मेनका— (६)

(सचेत होकर देखती है कि उसके हृदय के कोने में कहीं भी नवीन रूप नहीं रह गया है । आहत-सी होकर)

हैं यह कैसा ? समझी कितनी भ्रांति थी ?
'हम अभिनव की एक मनोरम रागिनी
जिसमें स्वर-माधुर्य उठ रहा है सतत
मंजु मूर्छना और ताल आरोह से
होता है उन्मत्त हृदय जड़ विश्व का ।'
(कठोरता से)
लो यह अपना पाप-पुण्य जो भी कहो
मैं जाती हूँ तुम्हें तुम्हारा सौंपकर ।

(कन्या को विश्वामित्र की ओर बढ़ाती है, ऋषि लेने में संकुचाते हैं, वह बालिका को एक शिला पर लिटा देती है ।)

ओ मानव, तेरी आशा का अन्त क्या,
तू विलास पर निज पौरुष के महल को
बना-बनाकर नारी को छलता रहा
तू उमंग ले विश्व-विजय को चल रहा ।

किन्तु पैर की उंगली कितनी लघु अरे,
छोटे से पैरों से, डग से नापना
चाह रहा है सभी विश्व को गर्व से।

विश्वामित्र—

जीवन मेरा भूला अपने ध्येय को
चढ़ते-चढ़ते भूधर के नीचे गिरा
और स्वर्ग के द्वार खोलकर झाँककर
लौट पड़ा आ गिरा दुःख में, नरक में,
समझा, मेरी निर्बलता ने तुरत ही
मुझे दबोचा आकर पीड़ित कर दिया
और महल आशा का मेरा भग्न कर
मुझे बनाया पथ का भिक्षुक। दैव हा !
अरी, क्या कहा 'तू अभिनव की रागिनी
जिसमें स्वर-माधुर्य उठ रहा है सतत'
तू जीवन का विषम पन्थ रौरव प्रबल।
अमृत छलकते हलाहल का विषम घट
दानव से, छल, कपट, ईर्ष्या मद लिये
देवों से आकण्ठ विलासी वासना
नारी में ही दीख रही अंगार-सी
मादक-सी, पापों-सी, ऊँची तान भर।
यह वसन्त, यह पुण्य, अनल है, दाह है,

यह राका पापों की लहरों से जड़ी।
उसी समय मानव के सुख पर गिर गया
दुख का वज्र जभी नारी की चेतना-
पर रीझा नर काम-अग्नि में प्राण दे।

मेनका—

तभी स्वर्ग का राज्य छीनकर हे प्रवल,
तुम ऊपर-ऊपर को उठते जा रहे।
विश्व खिलौना आशा का उल्लास का
वनता ही क्या नहीं तुम्हारा जा रहा ?
जीवन-पथ में पड़ा हुआ सुख ढूँढ़कर
निज प्रयास से द्विगुणित करते भ्रांति से।
सदा संगिनी नारी को दासी वना
निज सुख-सीमा वढ़ा-वढ़ाकर हँस रहे।
आज तुम्हारा मानव क्यों कम्पित हुआ
नारी-स्मय की छाया में पलकर तनिक;
कौन अमृत के धोखे तुम विष पी गये ?
क्या न स्वर्ग की साध तुम्हारा तप रहा ?
क्या पौरुप को और सवल करना नहीं
रहा तुम्हारा ध्येय सृष्टि की आदि से ?
क्या न इन्द्र वनने की तुम में चाह थी ?
क्या न तुम्हें विधि, हरि, हर से भी उच्चतम

होने की आकांक्षा तप से पूर्व थी ?
क्या न हृदय में एक भृकुटि-संकेत पा
नये विश्व रच देने की थी कामना ?
कौन काम निष्काम कर रहे थे कहो।
और आत्म-सुख का उसमें था लेश भी
नहीं। अरे ओ मानव तेरा पूर्ण भ्रम
यही विश्व-कल्याणकारिणी चाह थी ?

विश्वामित्र—

माना नर ऊपर उठने की चाह में
सभी स्वर्ग का महाराज्य पाने चला।
किन्तु न क्या यह जीवन की है सफलता
और न क्या मानव को है अधिकार यह ?
कहो भला नर के उठने से क्यों हुआ
नारी का अपमान। विश्व संघर्ष है।
साहस हो जिसमें, बल हो औ' शक्ति हो
होगा वह ही, विजय-कीर्ति नेता, सदा।
कौन मार्ग में आकर नारी के खड़ा,
विश्व वश्य होता है बल पर, शक्ति पर।

मेनका—

क्या न अभी तक देख सके संघर्ष का
साहस का औ' शक्ति साधन का कुफल।

देवों का असुरों से क्यों संग्राम यह
होता रहता सदा जगत् में; शांति का
क्यों न रूप ही देख सकीं, हम आज तक ?
यह अकाम्य की सदा कामना दुःख है।
इस उमंग में आकर तुमने स्वयं ही
नर-नारी की श्रेष्ठ सृष्टि का नाश कर
पूर्ण सौख्य की अवहेला करके निठुर,
जीवन को कर डाला रौरव नरक है।
एक कृत्य में नहीं अनेकों कृत्य में
सब समाज में पूर्ण जगत् में नित्य ही
निज सत्ता की, निज प्रभुत्व, निज दर्प की
दीप-शिखा लेकर चलते हो आज भी।
क्यों न व्यक्तिगत स्वार्थ-भावना त्यागकर
जन जन की कल्याण कामना चाहते,
क्यों न सभी को जीने का अधिकार हो
अपने रूप-विकास, पूर्णता का परम।
एक हाथ से करता नव-निर्माण तू
और ऊपर से नाश उसी का कर रहा ?

(मेनका का प्रस्थान)

(७)

विश्वामित्र—

गई हृदय में आग लगाकर उड़ गई,

गई व्यर्थ-सा कर नर के उल्लास को।
गई ज्ञान की दीप-शिखा उद्दीप्त कर
चली गई तू मानव की आराधना?
ठहरो, मेरा चित्त ग्लानि से पूर्ण है,
तुङ्ग विभीषा मेरे मन में उठ रही।
हाय, समझता मैं जिसको कल्याणकर
वह सब निकली छूँछी ज्ञान-विभावना।
सचमुच मैंने स्वार्थ-हृदय के भाव को
जीवन का समझा था उन्नत मार्ग ही।
मेरे तप में, जप समाधि में धूम था,
स्वार्थ, व्यंग्य, अपलाप, शाप का, हेय का
निम्न कोटि का, नरक-द्वार का भाव था।
जाना मैंने हाय, आज क्या हो गया
निश्चय कुछ भी नहीं कर रहा—क्या कहा—
'क्या न अभी तक देख सके संघर्ष का,
साहस का औ' शक्ति-साधना का कुफल?
देवों का असुरों से क्यों संग्राम यह
होता रहता सदा। जगत् में शान्ति का
क्यों न रूप ही देख सकीं हम आज तक
यह अकाम्य की सदा कामना दुःख है।'
ठीक, ठीक ही कहा सुखों की आस में

दुख ही नर ने बढ़ा लिये हैं घोरतर।
शान्ति वस्तुतः शब्द-कोष की वस्तु ही
रही। हाय मानव ने यह क्या कर दिया!
नारी को निज सुख का साधन मानकर
उसे बनाया हमने पथ का पुष्प है।
परब्रह्म ने सृष्टि रची थी इसलिए
हम सब सुख से रहें समान विभाग से;
जीवन का सुख भोगें, देखें प्रकृति का
उज्ज्वल अभिनव रूप, स्वर्ग का सृष्टि को
दिखला दें, उस जीवनेश को कर्म का
सुन्दरतम फल और सफल जीवन करें।
ओ जीवन के हास, आज तुम हँस उठो,
देखो रवि-आलोक, चन्द्र का स्मय मधुर,
पुष्प-पुष्प पर किरण डाल जीवन बना
इस लघु में हो सारे जग का बिम्ब ज्यों ?

(बालिका रोती है, ऋषि उसे उठाकर प्यार करने लगते हैं।)

(एकदम कुछ सोचकर)

हैं, यह क्या, यह क्या मैं भूला लक्ष्य निज,
किंवा मेरा भूला है सुविवेक ही!
अन्तर में घुटता-सा है यह धूम क्यों
फोड़-फोड़कर इस शरीर से निकलता!

सब कुछ भ्रम-सा, मिथ्या-सा लगता मुझे
देख रहा हूँ सब कुछ खोया आज तो !
नहीं, नहीं यह हृदय राग कुछ भी नहीं।
मैं बनने ब्रह्मर्षि चला था, दुःख हा,
राजा बनने चला भिखारी हो गया !
हीरा होने चला कोयला हो रहा !
सत्य सुधा में, विष में, औ' मणि काँच में,
तिमिर तेज में और दिवस में, रात में,
पशु में, मानव में, जीवन में, मृत्यु में
नहीं कभी क्या कोई भी अन्तर रहा ?
कुछ भी स्थायी नहीं विश्व में एक 'मैं'
का मिल जाना ही महान् में सार है।
क्यों न आज फिर 'अहं' खोजने को चलूँ ?
क्यों न विश्व का नरक छोड़कर स्वर्ग से
मिलने जाऊँ जो शाश्वत है, नित्य है।
अरी बालिके ! तू अपने ही दैव पर
जी या मर। मेरी तू कुछ भी है नहीं।
कोई भी कुछ नहीं 'कहीं' भी कुछ नहीं
स्वयं 'अहं' यह बँधा हुआ है हँस रहा।
औ' इस की नश्वरता से नित फूटकर
रोता है जग नित्य तुहिन के व्याज से।
पतझड़ के पीछे वसन्त है यदि यहाँ

क्षार-क्षार कर देने वाला ग्रीष्म भी—
तो वसन्त के हँस उठते ही आ खड़ा
होता जलती-सी मशाल रवि की लिये।
रोना, हँसना, दिवस-रात की ही तरह
जीवन और मरण से आता जा रहा।
हा, हा, जीवन के छोटे से श्वास पर
मरण, वेदना, हास, प्रेम औ' विश्व के
सब प्रपंच उठते विलीन होते सभी।
क्यों फिर मैंने हाय, आग को हृदय से
लगा-लगाकर तप का मृदु कौपेय लघु
भस्म कर दिया क्षण में अरे, क्षणार्ध में।
नहीं बालिके, मैं न रुकूँगा तनिक भी।
तव शैशव में अनल जल रहा, श्वास में
जीवन उठ-उठ मूर्त बना-सा, घृणा-सा
मुझ पर ही हँसता है हँसता जा रहा।
मानो सब कुछ किसी कृपण का लूटकर
डाकू करते अट्टहास उपहास हों!
हाय, पतन ने क्षण-भर में ही छीन ली
संचित हृदय-विभूति। प्रेत-सा कर दिया!

(बालिका दृष्टि भरकर ऋषि की ओर देखने लगती है, ऋषि उसे बिना देखे ही चले जाते हैं।)

मत्स्यगन्धा

पात्र

मत्स्यगन्धा

सुभ्रु

अनंग

पराशर

पहला दृश्य

गंगा का किनारा, संध्या समय—

(मत्स्यगन्धा और उसकी सखी सुभ्रु नदी-किनारे के उपवन में पुष्प चयन कर रही हैं।)

दोनों—

(गाती हुईं)

गन्ध विधुर मन्द पवन
निखिल सुरभि मुग्ध सुमन
घूम घूम करें चयन
आओ सखि, आओ सखि।
जागा सुख-संध्या सुहाग
भरता अग में, जग में, बिहाग
भरता प्राणों में अबुझ आग
गुंजित पक्षी रव कुंज धाम
मद के नद सी भर गई शाम
तन में मन में है काम वाम
उल्लसित सुमन, उल्लसित पवन
यह मुक्त सुमन, यह लग्न सुमन

आज घूम करें चयन
आओ सखि, आओ सखि।

सुभ्रु— (सन्ध्या के सौन्दर्य में मग्न-सी होकर)
देखो, सखि देखो, देखती हो अरे, कैसा यह
मंजु वीणापाणि शारदा की स्मय-भावना सा
स्फटिक—प्रफुल्ल फुल्ल धराधाम दीखता है।
मन्द मन्द मारुत का प्राण सा निखर रहा
मान सा बिखर रहा शची के विलास सा
मधुर। इस वेला री, दिनान्त में प्रभात-सा
हुआ है। विशद चल वीचि-माल जालियों में
घुलने लगी है सब रक्तिमा समेट कर
आशाएँ हृदय की। मधुर मधुर तर
भरता सा कोलाहल मुखरित हो हो कर।
माधवी की, यूथिका की, मंजुश्री—पुष्पराशि
मद के चषक से उड़ेलती प्रभूत पूत
शोभित वनान्त में निशा का मुख खोल खोल
देखा अरी, देखा, कैसा........

मत्स्यगन्धा— (फूल चुनती हुई ठहर कर)
—सुन्दर महान् सब।
नित्य देखती हूँ सखि, मुक्त-गुच्छ-तारिका का
नभ में अनभ्रहास, क्षितिज के मुख पर

रोली सी लाल लाल; होली खूब जलती है,
जैसे सारे नभ का अनल जल जल कर
मदहीन उसे कर देने उठ आया आज!
और देखती हूँ द्वितीया के चन्द्रमा ने दूर
मांसहीन अपने हृदय की रेख खींचकर
उस नील नभ का सुनील पट चीर दिया;
नागदन्तिका सी वक्र गाड़ दी किसी ने वहाँ
अनजान में ही मंजु ग्रन्थियाँ कपूर की।

(विभोर-सी होकर)

प्रिय सखि, आज मम हृदय सिहर कैसी,
प्रकृति हृदय ही या हुआ मुग्ध ऐसा आज,
मानता नहीं है मन; यौवन की क्या लहर
कहता जगत जिसे होगी वह कैसी भला?
कौन जागता है, कौन सोता मेरे पास छिप
जान सकना कठिन। किन्तु, देखती यही कि कोई
राग सा बजाने मेरे प्राणों की वीन पर
चल चल आता है। कौन है बता तो वह
देखते ही जिसके मैं भूल जाती सुध सी,
विश्व भूल जाती, भूल भूल धर्म नीतियाँ भी;
अतल हृदय ताल निर्मल अमन्द मन्द
उठती तरंग मेरे अंग अंग, प्राण में।

कैसा यह, कैसा यह, भावना से प्रेरणा का
प्राणों से है मन का अमिट संयोग हुआ ?
कैसी यह जीवन में लसित तरंग सखि ?

सुभ्रु— (आश्चर्य में आकर)

तेरे मृदु अन्तर में कौन चुप-चाप बैठा
गा रहा है गीत, मैं तो जानती नहीं हूँ कुछ ?
मैं तो यह जानती हूँ कोई कह जाता मंजु—
मंजु-वृन्त-किशलय-तन्तु में उलझती सी
प्रमुदित कणों की सी सुषमा लिये हुए
आई हूँ धरा पर न जाने, कौन जाने सखि ?

मत्स्यगन्धा—

(उन्मत्त-सी होकर)

जाने कैसा हो रहा है, कैसा यह हो रहा है,
मेरी सब इच्छा की सीमाएँ बिखरती हैं;
जैसे मैं अनन्त-मद, किन्तु हुई मदहीन ?

सुभ्रु—

हाँ हाँ यह—

मत्स्यगन्धा—

कैसा कुछ—

सुभ्रु—

—रोम का मृदु-प्रकम्प....

मत्स्यगन्धा—

ऐसा यह रोग फिर इसका उपाय क्या ?
किन्तु निरुपाय साध्यहीन भी तो कैसे कहूँ
बता तू ही, तू ही बता......

सुभ्रु—

—जाने दो अबाधमान
गति से अनन्त तोय भरे हुए ऊर्मि लिये
बहती सरित नित मानो कान बन्द कर।

मत्स्यगन्धा—

दुख-हीन, लक्ष्य-हीन, स्वर-हीन, लय-हीन
एक ही प्रमत्तमति, एक ही प्रमत्त गति।
ऐसे ही तो मैं भी बही जा रही हूँ, किन्तु मैं तो
नाविका हूँ, केवट की बेटी, काम जिसका है
पार पहुँचाना। नहीं, लहर सी मुक्त हूँ मैं,
मुक्त-गुच्छ कलिका सी स्वर्ग ने गिराया जिसे
साधना का बोझ लिये। और इन ऊर्मियों ने
स्नेह के विधान ऐसा, अस्थिर प्रकाश ऐसा—
प्रेम की जलन ऐसा..........

सुभ्रु—

—मौन सिखलाया है।
जानने लगी है अरी, तू भी मान होता है क्या,

मानने लगी है निज हृदय की सीख सखि ?
मैं क्या हाय, मैं क्या जानूँ, जानती नहीं हूँ कुछ।
मैं तो चाहती हूँ शुभ्र-सुमन की मंजु-माल
बन जाऊँ, बन जाऊँ शरद सुधांशु सी।
और नभ-हास का विलास लिये फैल जाऊँ
मुक्त नभ नीलिमा में तारिका प्रफुल्ल सी।
खोल निज हृदय बिखेर दूँ प्रमत्त मधु।
जिसके शकल घन सुधा से अनन्त झर
विश्व को अमृतमय, विश्व को अजरतर,
विश्व को अमरतर कर दें अनन्त काल।

(फूल चुनती हुई आगे बढ़ जाती है।)

(छायामय अनंग का प्रवेश)

मत्स्यगन्धा—

आप कौन ?

अनंग— —मैं अनंग विश्वरंग।

मत्स्यगन्धा—

काम क्या ?

अनंग—

—प्रताडना, विमोह-मृदु।

मत्स्यगन्धा—

ऐसे सुकुमार आप........।

अनंग—

—चन्द्र में प्रसाद सा,
सुमनों में पुष्परस, कण्ठ कल कोकिल में,
हूँ प्रगल्भ हास मैं, जपा में अरविन्द कुन्द,
गर्विता सुमालती में मादिर मदिर गन्ध;
यौवन में तृप्ति-हीन तृष्णा, प्ररोहलोम।

मत्स्यगन्धा—

किन्तु प्रिय-मानव में....!

अनंग—

—सैकड़ों वसन्तहास,
शतशत उद्गार, शतशत हाहाकार,
प्रणयों में पीडित हृदय का अवर्ण्य छन्द।

मत्स्यगन्धा—

देख तुम्हें हे अनंग, प्राण नव आस लाया
जैसे लिये आ रहा कि शेष हो अशेष को।
कैसे तुम सुन्दर, ज्यों मिश्रण हो शैशव का,
यौवन का, तारिका का, विधु का, विलास सब।
आहा, तुम्हें देख मानो जीवन परम साध
जुड़ आई हो ज्यों बाल-रवि उषा संग संग।
देखी ऐसी, देखी कब, दामिनी की शुभ्ररेख
मूर्त रूप धर चली, उतरी अनन्त से

इस जग दुःख से अमर करने के लिये;
मुक्त करने के लिये सुख को अमृत में।
मानो विश्वराग ही शरीर धर आया हो।
हीरक के सर में जड़ी है नीलमणि मानो
बुरक दिये हैं लाल कूटके कहीं कहीं।
अष्टमी के चन्द्रमा की फाँक ऐसी शुभ्र आँख
कर्ण कुहरों से कुछ कहने चली है आज?

अनंग—

मैं तो प्रिय यौवन अनन्त हूँ, अनन्त-दान,
यौवन अनन्त-मान, ध्रुव सी, विरुद माल।
विश्व के समस्त सुख का हूँ एक ज्योति-पुंज
पद-चापहीन नित भू पर उतरता।
यौवन उदग्रगन्ध मत्स्यगन्धे, जग में है
दिशा आलवाल में सुधांशु के उदय सा
तमहीन, जैसे नभमालिका बटोर सब
तारिकाएँ भूरि भेंट भेंटती दिवस को।
और वस्त्रहीन और आभूषणहीन रति
तिमिर उदधि में छिपाती निज-रूप छवि;
वैसे यह यौवन है जीवन-अकल्प पुष्प
तुम्हें अपनाने आया......

मत्स्यगन्धा—

—ओ अनंग, ओ अनंग !

मैं दरिद्र केवट की बेटी हूँ उपाय हीन
एक उल्कापात सी निरर्थ धरा धाम पर।
छोड़ दो मुझे न व्यर्थ पात्र करो हे अनंग,
यौवन चषक का अनन्त-मद नव नव।
क्या करूँगी लेके इसे असहाय दीन-हीन
कहीं नाव डूबे न ,

अनंग—

अतल जल धार में।

यही न, यही न, तुम कहती हो किन्तु सुनो,
मैं न देखता हूँ धन वैभव अतुल बल ।
देवों ने इसी के लिये किये हैं अखण्ड तप,
और वे अमर हुए लिये धन मद का।
एक यही परमेहा यौवन अनन्त रहे
विष्णु आदि देव भी तो चाहते हैं नित्य यह।
च्यवन से ऋषियों ने यह वरदान लिया,
यक्ष, नाग, किन्नरों को सदा अभिप्रेत यह?

मत्स्यगन्धा—

किन्तु मुझे चाहिये न हे अनंग, यह दान
मेरे लघु प्राण में अनन्त अब्धि-मद-भार

कैसे आ सकेगो हाय, कैसे मैं उठाऊँ बोझ
कैसे एक पात्र में भरेंगी सरिता महान् !

अनंग—

कब प्रिय अवसर मिलता है बार बार
लीलता ही जाता यह काल-व्याघ्र चुपचाप !
किन्तु मैं तो देखता हूँ, देख ही रहा हूँ सत्य,
हृदय उमंग कब ज्ञान को बनी है प्रिय ?

(प्रस्थान)

मत्स्यगन्धा—

(जागती-सी चेतन होकर)

कैसा यह छायाचित्र, प्रिय सा कहाँ से आया
क्या कहा, सुना न हाय, देखा कब निरुपम,
निर्विकार, प्राणसुख, क्या कहा न याद कुछ ?
घूमता सा देखती अलातचक्र ऐसा चित्त,
रह रह, काँपती हैं रोम राजियाँ निखिल।
इष्ट सा मिला हा, औ' मिलन सा हुआ क्षणिक
कल्पना, छलावा सा, प्रवेग सा गया है छिप;
या उमंग मन की थी, या तरंग जल की थी,
या फुहार मेघ की सी झलकी, समा गई ?

सुभ्रु—

(सुभ्रु का प्रवेश)

क्या हुआ है तुझे सखि, कौन था, कहाँ था कौन,

मैं न देख पाई कहीं साधना परम सी।

मत्स्यगन्धा—

मिली प्रिय प्राण छवि, मिला प्रिय प्राण-दान,
वक्र सी भृकुटि लोल नेत्र-मद सरिता सी।
हाय, वह यौवन का क्यों न वरदान लिया,
क्या न अभिमान मिला यौवन निखिल सा।
लाओ प्रिय, दे दो अभिशाप भी तुम्हारा प्रिय
हे वरद, हे महान्, हे अनंग ! अंग अंग

सुभ्रु—

आओ चलें, आओ चलें मैं न समझी ही कुछ
क्या मिला, गया क्या हाय, कौन था हृदय धन ?

मत्स्यगन्धा—

जान कहाँ पाई सखि, खोजती पलक डाल
हृदय बिछाये हुए उसको...न जाने कौन ?
स्वप्न सा समाया और विस्मृति विद्धमन
यौवन की छाया एक, सिहरन भर गया,
भर गया रोम रोम, अंग अंग, प्राण शत
शतशत मद-नद, शतशत हाहाकार।

सुभ्रु—

यौवन का प्राणवाह पञ्चशर द्वार द्वार
फिरता अनन्त छवि भर भर अंग में।

जीवन यही तो सखि, जीवन यही तो प्रिय,
है यही प्ररूढ उद्दाम राग प्राण का !
स्वप्न की निखिल भूति, अनुभूति साधना की
विश्व की विभूति एकमात्र, एकमात्र रुचि ।
कण कण पिण्ड के हैं जाग उठते से देख,
भर जाती रोम रोम अतुल पिपासा उग्र ;
विश्व अभिनव मद, अभिनव राग यह
नवनव प्रतिपल आलिंगन प्राण दान ।
स्वप्न सखि, चिर सत्य, प्रिय सखि प्राण गान
मूक जग जागृति अथ च हेय अन्य सब ।
आओ चलें, आओ चलें...।

मत्स्यगन्धा —

—पद गति हीन हुए।
छन्द यति हीन हुआ, मति हीन मति है।
(प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

प्रदोष समय—

मत्स्यगन्धा—

(नाव के पास डाँड एक हाथ में लिये)

यह ग्रन्थि, यह ग्रन्थि सुलझेगी या कि नहीं
उस दिन देखा था क्षणिक अथ तृप्तिकर।
हाहा, यह कण्ठ अवरोध कर देनेवाली
दाहकर, सुख कर पिपासा न शान्त होगी ?
कौन तप्त शृंखला में जकड़ रहा है मुझे
उबल उबल मेरा प्राण भाग उठता ?
क्यों न राका शारदा सदा ही रहती है यहाँ
मुक्तहास लड़ियाँ सी छोड़ छोड़ नभ से ?
क्यों न ऋतुराज का समाज चिर काल तक
कल्पवल्लरी के मंजु अपर कुसुम सा
विकसित होता है अनंतमद भार लिये
औ' अनन्त प्यार लिये यौवन के तट पर ?
क्यों न माकरन्द मद मत्त षट्पद यह
शिंजना बिखेरता प्रसन्नता उड़ेल कर ?

ध्रुव भी प्रकाशहीन रहता निशान्त में है
कैसा यह वैपरीत्य...... ।

(देखती है जटाओं की गठरी लादे नाभि तक लम्बी दाढ़ी फहराते हुए एक ऋषि सामने खड़े हैं।)

पराशर—

—उस पार जाना है ।

मत्स्यगन्धा—

(घबराकर स्वगत)

हैं हैं यह कौन, प्रिय यौवन का एक दीप
नर अभिलाषा का निपट अवसान पुंज !

(प्रकट)

हो प्रणाम देव, शिरसावनत कन्यका का
स्वीकृत, पिता ने आज भार यह सौंपा मुझे
यद्यपि विमूढ़, मूर्ख दारिका मैं केवट की ?

पराशर—

शिव शिव कहो कौन मूर्ख, कौन मूढ़ यहाँ
काल जीवनेश सिखलाता है प्रपंच सब
पार पहुँचा दो सुकुमारि, शीघ्र शीघ्रतर ।

मत्स्यगन्धा—

हाँ हाँ किन्तु.......... ।

पराशर—

— गर्भित है 'किन्तु' में क्या ?

मत्स्यगन्धा—

जीर्ण नाव, शीर्ण बल, अनिल प्रबल।

पराशर—

—चलो।

जाना ही है पार पहुँचा दो प्रिये, त्वरतर।

तीसरा दृश्य

समय सूर्यास्त—

(नाव में पराशर ऋषि बैठे हैं, मत्स्यगन्धा नाव चलाती है। सब ओर शान्ति है केवल कभी छप-छप की ध्वनि सुनाई दे जाती है।)

मत्स्यगन्धा—

यह तो अनय प्रभो, कैसे मान लूँ मैं यह,
हीन जाति तो भी है समाज का अनन्त भय।
कैसे यह, आप ही बताइये, बताइये न ?

पराशर—

ठीक है समाज का प्रवाद अति दारुण है
किन्तु है समाज का विधान तो मनुजकृत;
छिन्न कर देता वही जो इसे बनाता कभी
मानव की प्रेरणा का फल ही नियम है।
आओ, सुकुमारि, सब तोड़ दें नियम जाल
प्राण जड़ बन्धनों में जीवित रहा है कब ?
रवि जो प्रकाश देता विश्व में किरण डाल
वही हीनप्रभ नष्ट होता है दिनान्त में।

मत्स्यगन्धा—

किन्तु हिताहित भाव मूल हैं नियम के
और ये नियम ही समाज शिलाधार हैं।
यह है अधम काम ज्ञानहीन मानवों का,
आप तो महान् ज्ञान गुण के निधान हैं।
मैं हूँ दीन नारी, अज्ञ, मूर्ख, अविचारी प्रभो ?

पराशर—

(सोचते हुए)

शिव शिव कहो प्रिये, धर्म है अनन्त रूप।
तथा वचनीय नहीं साधारण नर को।
'सृष्टि मूल धर्म है, प्रकृति मूल कर्म सदा
श्रद्धा मूल भक्ति है समाज फल मूल हैं।'
तुम नहीं जानती हो धर्म का गहन रूप
यह अविचार्य अथ सरल जटिल तर।
मानता है मानव जिसे ही धर्म-वस्तु आज
कल वही होती अविधेय नरलोक में।

मत्स्यगन्धा—

किन्तु ऋषिवर, जिस कार्य का सम्बन्ध जहाँ
उससे वही तो फल पाता है स्वकृत नर।
नाथ, क्षमा कीजिये, मैं जानती नहीं हूँ तो भी
अपने को चीन्हती, स्वधर्म को भी चीन्हती।

नारी के स्वरूप, सुख, शोभा में छिपे हैं देव,
संख्याहीन अभिशाप, संख्याहीन यातना ।
वासना का वेग वहता है अति भीम वहाँ
कृच्छ्र दमनीय, वह प्रलोभन पुंज और
आकर्षण । नारी एक श्वेततम पट सम
जिस पै तनिक विन्दुपात भी कलंक है ।
अल्प ही अकाम्य गति, अल्प ही विधान भंग
अल्प ही कुपथ गति, यति है विकास की ।
अपयश, अपलाप नारी के लिये हैं सृष्ट
जीवति ही नारी का मरण कर डालते ।
कैसे तोड़ वन्धनों को जो अनादि काल से हैं
आज मैं अवन्ध हो चलूँ क्यों अविधेय पथ ?

पराशर—

ऊँच नीच कोई नहीं, पाप पुण्य कहीं नहीं
कर्माकर्म कुछ नहीं, ओ अनंग रंजिते !
सब ही अपेक्षाकृत अविधेय औ' विधेय
है नियम निर्माण भंग-मूल जग में ।
एक नर गौरव सामर्थ्य ही महान यहाँ
लघु को विधान हैं, नियम हैं, समाज है ।
देखो, लघु सरिताएँ चलतीं विधान लिये
और वही पावस में बाँध तोड़ चलतीं ।

मध्य रवि के लिये क्या कोई भी नियम है ?
स्थल समता की क्रन्दनाएँ करते हैं अति
किन्तु भूधरों की उच्चता का नहीं अन्त है।
नियम महान के महान ही तो होते आये
लघु को नियम लघु होते हैं सुचिरतर।
नर है अतर्क्य, ज्ञान उसका अतर्क्य सुभ्रु ?
मानव समस्त विश्व चेतना का मूल है।
आओ, इस कृत्य में भविष्य का प्रकाशमय
एक दीर्घ तारक का दैव सुनिहित है।

मत्स्यगन्धा—

(घबरा कर)
किन्तु ऋषि, कन्यकात्व ?

पराशर—

—वह भी कलंकहीन।

मत्स्यगन्धा—

माननीय होगा क्या ?

पराशर—

—री, नर तो सदा अदोष।

मत्स्यगन्धा—

कैसा वह यौवन का रक्षणीय रूप मधु
चिर चिर काल तक अन्त-हीन सुख क्या ?

पराशर—

देखता हूँ सुन्दरी मैं निज ध्यान दृष्टि से ये
तुम में भरी है चिर यौवन की साधना।

मत्स्यगन्धा—

(उत्सुकता से)

हाँ हाँ है विचार यह, अविचार होगा वह,
क्यों न ऋतुराज कल्प-कल्प तक रहता ?
यह जन्हुकन्या सदा यौवना ही दीखती है
क्या न मेरा यौवन....

(लज्जा नाट्य)

पराशर—

—अनन्त मद राशि हो,
देता वरदान तुम्हें। किन्तु नारी, प्रिय भी
सदा न प्रिय लगता है—

मत्स्यगन्धा—

(हाथ जोड़कर)

—नाथ, वह इष्ट मुझे।

पराशर—

एवमस्तु एवमस्तु—

मत्स्यगन्धा—

—एवमस्तु प्रियतम।

(एक दम अन्धकार छा जाता है, नाव स्थिर हो जाती है, उसी

अन्धेरे में संवाद सुनाई देता है।)

एक आवाज़—

नाथ, यह कन्यकात्व ?

दूसरी आवाज़—

—वह भी कलंकहीन।

पहली आवाज़—

माननीय होगा क्या !

दूसरी आवाज़—

—री, प्रभु है सदा अदोष।

पहली आवाज़—

नाथ, वह यौवन का रक्षणीय रूप मधु
चिर चिरकाल तक अन्तहीन सुख क्या ?

दूसरी आवाज़—

आओ, इस कृत्य में भविष्य का प्रकाशमय
एक दीर्घ तारक का दैव सुनिहित है।
(आवाज़ धीमी होती जाती है)

पहली आवाज़—

क्या न मेरा यौवन ?

दूसरी आवाज़—

—अनन्त सुख राशि युत।

देता वरदान तुम्हें। किन्तु प्रिये, प्रिय भी

सदा न....।

पहली आवाज़—

—प्रिय रहता है, नाथ, वही इष्ट मुझे।

दूसरी आवाज़—

एवमस्तु, एवमस्तु—

पहली आवाज़—

—एवमस्तु प्रियतम !

चौथा दृश्य

मत्स्यगन्धा—

(एकाकिनी उसी नदी के किनारे)

क्या हुआ हा, कैसा यह, याद पड़ता न कुछ
रोम रोम वहा नवचेतन अनन्त आज,
और लगता है जैसे विश्व अभिनव ने ही
मद का उदधि भर डाला मानो देह में।
देखती हूँ लतिका का एक मूक कम्पन सा
फुल्ल सुमनों में भर रहा है अनवरत
दीप्त प्राण, मूर्तश्वास, जग का विलास सुख।
दिशा की वधू की वेणी खोलने लगे ये मेघ
वेणी ही बने हैं किम्वा मेरे कुन्तलों में भूल।
अमृत, आनन्द, मद रोम रोम लहराता
मेरी मत्त चेतना में सोता हुआ उठकर।
सींवन सी तोड़ देने देह की चले हैं आज
प्राण मेरे बन्धन निर्बंध करते हुए।
विश्व सुषमा से इस नील नभ में ही किम्वा
मृदु, स्वेद-बिन्दुओं का अजर नक्षत्र लोक

मधुर मधुर लिपियों से लिखता है आज
सैकड़ों कलम से सुयौवन के पट पर।

(सोचकर)

मैं न कुछ कह सकी, रोक ही सकी न हाय,
उन्हें इस कार्य से, अकार्य से विमूढ़ सी।
जैसे सब मैं ही हूँ। महान जल धार में
निखिल शशियों का एक हास उठ आया हो।
क्या कहा था याद आता। 'देता वरदान तुम्हें
किन्तु प्रिये, प्रिय भी सदा न, प्रिय लगता है—'
मैंने कहा धीरे धीरे, 'नाथ, वह इष्ट मुझे।'
उन्होंने कहा था फिर 'एवमस्तु एवमस्तु।'
मेरा प्राण कह हँसा—'एवमस्तु प्रियतम।'

(प्रस्थान)

पांचवां दृश्य

समय सन्ध्या—

(सत्यवती क्रीड़ा उद्यान में स्फटिक शिलातल पर बैठी वीणा बजा रही है। सामने फुहारे से जल के कण आकाश में पवन पर नाच कर आलवाल में गिर रहे हैं। सूर्य की अस्तोन्मुख रश्मियाँ अपने सौन्दर्य से उद्यान की लताओं, तरुओं, कलियों, कुसुमों और पानी के स्रोत को रंगीन रही कर हैं।)

मत्स्यगन्धा—

(गीत)

मदिर मदिर यौवन उभार चल
मधुर मधुर मेरे सिंगार पल
सप्त सिन्धु एकाकी जीवन
नभ असीम एकाकी यौवन
छवि में प्रिय की छवि ताके तुम
प्राण झरोखों से झाँके तुम
कुन्तल पर लहरों के बादल
नाप 'आज' से रहे नये 'कल'

उमँगे जग के मद-सागर से
आशाएँ यौवन-गागर से
पुलक पुलक यौवन खुमार जल
मधुर मधुर मेरे उभार चल
(सुभ्रु का प्रवेश)

सुभ्रु—

गीत में क्या यह सुख, यह मद ? जाना नहीं
कण्ठ का सुरीला स्वर शत परभृत सा,
मद-सिक्त रूपसिक्त, सुधासिक्त, सुखसिक्त
सुना ऐसा कभी नहीं चेतन अचेत कर।

मत्स्यगन्धा—

यौवन के उठते उभार से मैं नाप रही
कोने युग युग के औ' सप्त-रश्मि सीमा घन
अपने ही नेत्र की सुरश्मियों से धोने चली,
धोने चली विधु का कलंक निज हास से।
मैं गगन जलघन, मेघ मन्द्र गर्जन को
अपने ही यौवन के स्वर से हूँ साधती।
मेरी है अछोर आस, साहस अथक मेरा
प्राण हैं सुदृढ़ वज्र दण्ड से अजेय गुरु;
नाप सके पृथिवी की, नभ की भी सीमा सब
एक ही सी गति से अयति पदगति मम।

मेरे उग्र यौवन का मध्य काल हीन-संध्य,
विशद विजय वैजयन्ती निज गाढ धरा,
नभ की नवीना दामिनी का पीत-भाल फोड़
रँग रहा स्वर्ण के सिन्दूर से दिशाएँ सब;
रंग रहा सागर की सुन्दरी की नीली माँग,
कुन्तलों से खेलती जो छाया डाल प्रेम की।
मेरे मंजु हास से प्रकाशित विलास केलि,
भूल गई, भूल गई आज मैं, अभाव सब ?

सुभ्रु—

(प्रसन्न होकर)

ऐसा सुख यौवन का चिर चिर काम्य सखी ?

मत्स्यगन्धा—

तृप्ति है असीम सुख, तृप्ति है अनन्त मधु
वही मैंने पाया आज यौवन के स्वर्ण द्वार;
यौवन है स्वर्ग धाम, यौवन अहेय काम
आज मेरे यौवन का अन्त-हीन मध्य काल।

सुभ्रु—

रह क्या सकेगा यह एक ही प्रकार से ?

मत्स्यगन्धा—

हाँ हाँ, वह वरदान हुआ सत्य आज ही तो
कोई भी न काम्य आज, कामनाएँ दासी मेरी

सभी की सुशासिका सिन्दूरिणी है सत्यवती।
आज चिर यौवन की ताप हीन नाव चढ़
बनी अलबेली घूमती हूँ अविरुद्ध पथ
जीवन की सरिता में डाँड़ डाल ऊर्मि सुख;
मुक्त नभ, मुक्त काल, छंद बन्ध तोड़ छोड़,
यति हीन कविता सी, बाधा हीन सरि धार।
—आगम के चिन्तन में मग्न-मूक विधाता सा
मेरा मौन अतिरेक सुख के ऽनुभाव का,
सिद्धि का, समृद्धि का अनन्त अभिलाषाओं का
और तृप्ति प्राप्ति का भी, रश्मि सिन्दूर सा।
—मेरे ही यौवन का प्रकाश 'शीतरश्मि' लिये
पृथ्वी पुलक पल चूमता है झूम झूम
और मंजु मुक्तादल पल्लव हृदय डाल
पुष्प कलिका की चिर आशाएँ सँजोता नित।
—मेरे ही यौवन का प्रकाश उग्र रश्मि लिये
जीवन में रस का प्रभाव भरता है नित;
औ' अनादि सुन्दरी उषा के ऽनिन्द्य आनन को
चूमने की लालसा में दौड़ता सा दीखता;
आज भी तो संध्या के सुनील लाल पाटल से
अधर, उरोज दल चूमने को, छूने को,
पाने को सहस्र गुण वेग से, त्वरा से भर

दौड़ता ही रहता ऽविलम्ब कामना-सा धन।
क्या न यह यौवन का भाव भूरि सखि, रहा
जिसमें न कहीं गति, विरति, विवेक लेश ?
किन्तु मैं तो मानती हूँ यौवन है वरदान
जीवन में मिलता जो यौवन, अहेय सखि ?
शैशव अचेत सुख अति भोले जीवन का
जिसमें न अपना, पराया फिर होगा क्या ?
वहाँ शिशु खेलता है बाधा-हीन लघु, लघु
अविकच भावना से जीवन के तट पर,
केवल है खेलता ऽपदार्थ के खिलौने लिये
जो न वस्तुतः सत्य यह शिशु पूर्व रूप।
बालक भी बालक है रस में, विलास में भी
केवल उमंग वह खेलने में, खाने में।
बालक है सीढ़ी एक जीवन के लक्ष्य हेतु
यौवन ही जीवन का एक मात्र ध्येय सखि ?

सुभ्रु—

और वह जरा—?

मत्स्यगन्धा—

—हाँ, जरा है पतझड़ ही तो,
सब कुछ जिस में, प्रभोग्य कुछ भी नहीं।
वह तो है जीवित सा सपनों की याद लिये

एक कंकाल मात्र जर्जर, रसहीन
वह तो है स्वर्ग भ्रष्ट पतित त्रिशङ्कु जैसा
याद जिसे वह सुख यौवन का एक मात्र
और जो न भोगता है अक्षय अथ च रुग्ण।
वह तो है मृत्यु और यौवन का संधिकाल
निर्वासित यौवन से भोग्य, मृत्यु-रुद्र का।
आज इस यौवन की मैं अजस्र रस धार....।

सुभ्रु—

अरे हाँ, हाँ, याद आया मैं तो भूल ही सी गई
हुआ जो अनर्थ कहती हूँ आज हाय, वह।

मत्स्यगन्धा—

क्या हुआ कहो तो कुछ, क्या अनर्थ, कैसा हुआ ?

सुभ्रु—

आज महाराज लौटे जैसे मृगया से तभी
सुना गया बेसुध हैं संज्ञाहीन विक्षत।

मत्स्यगन्धा—

(चौंक कर) कैसे यह हुआ कैसे...... ?

सुभ्रु—

—कहते हैं मृगया में
सिंह ने प्रवेग किया आक्रमण भारी एक
और महाराज थे असावधान उस काल

ध्यान में किसी के और (हंसकर) = कदाचित् तुम्हारे ही !

मत्स्यगन्धा—

नहीं, नहीं, ऐसा भी क्या किन्तु यह हुआ बुरा
क्या न अभी संज्ञा हुई, काँपते हैं अंग मम ?
चलो चलें, चलो चलें.... ।

सुभ्रु—

—आओ चलें देखें उन्हें ।
जाने सुमनों में काँटे किसने उगाये तीव्र ?

मत्स्यगन्धा—

सत्य ही क्या यौवन के अन्तर् में कंकाल
नाचता है गुपचुप धूमिल सी रेख डाल ?
(चली जाती हैं।)

छठवाँ दृश्य

समय सायंकाल—

(विधवा सत्यवती प्रसाद के शिखर पर खड़ी है। क्षितिज की रक्त रश्मियाँ उसकी लटों पर चमक रही हैं, बिखरे हुए बाल हैं और अस्तव्यस्त वस्त्रांचल।)

मत्स्यगन्धा—

यौवन के सागर का अन्त ही नहीं है कहीं
मेरा मन तूफ़ानों में उड़ा हुआ जा रहा।
मेरा स्वर्ग हीन हुआ हाय, पुण्य, पाप बना
आशा औ' उमंग हुई भार हैं अनन्त की।
चण्ड रवि रश्मि उग्र कौन भर गया हाय,
दाहक अनल ध्रुव मृदु तन मन में।
यह अति वेगमय, यह अति दाहमय
बनी क्रूर काल की कराल अग्निमालिका;
जो न बुझती है नित्य धाँय धाँय जलती है
ज्ञान अम्बु पाके भी न होती है विफल सी।
जलती हूँ रवि सी, अनन्त पाप पातकिनि,
जलती हूँ अग्नि सी प्रलम्ब देह-यष्टि ले
'यौवन अनन्तदान यौवन अनन्तमान।

अभिशाप वरदान, अपलाप वरदान ?'
नभ भ्रष्ट तारिका सी घूमती प्रकाश लिये
धूमकेतु धरा की प्रवुद्ध धूम-वाहिनी।
मेरा मन अग्नि-अश्रु वरसा न शान्त होता
द्विगुणित वासना भड़कती हुताग्नि सी।
हन्त, हत यौवन का अन्त-हीन यह वेग
धूमिल निविडतर घोरतर घनतर।
हे महान् ऋषिवर पराशर, क्यों दिया था
वर यह खर तर। आग क्यों लगाई देव,
वल्लरी सुमालती में खिलते ही खिलते ?
हाय, यह उषा नित आती वरसाती आग
रक्त सा उबाल देती देह का छनन छन।
और भूनता है यह चण्ड रवि अस्त तक।
संध्या प्राण तार खींच क्षितिज में हँसती।
यामिनी, न पूछो यम गर्जना-सी करती है
पीडाओं को मूर्त रूप देती और देखती।
नख से शिखर तक चेतना से क्रिया तक
प्राण से हृदय तक; बेसुधी सी झूमती।
घूमता शरीर यंत्र, घूमते नगर, धाम,
घूमता है नील नभ जगत अलात सा।
घूमते हैं चन्द्र, रवि, तारक अति-प्रवेग

घूमता है विश्वदण्ड भ्रम लिये भ्रम का।
अरे, कब अन्त होगा इस मद का प्रमाद का भी
सागर सी ऊर्मियों का, कथित तरंग सा।
भूली नाथ, भूली नाथ, ले लो यह वरदान।
लौटाओ, लौटाओ प्रभु, क्षण भी युगान्त हैं।
यौवन का वेग ऐसा प्राणहीन देखा कब?

(अनंग का प्रवेश)

अनंग—

देखा अब कैसा लगता है ओ तरंगिणी ?

मत्स्यगन्धा—

(आगे बढ़कर)

हाय तुम, अरे तुम ?

अनंग—

(हंसकर)

—मैं अनंग विश्वरंग।

मत्स्यगन्धा—

तुम मेरे अभिशाप, जीवन के अपलाप,
ले लो, लो दिया जो ले लो, अविलम्ब हे अनंग,
है असह्य भार यह दुर्वह प्रचण्डतर
दण्ड लघु कार्य का अमेय है, महान है।

अनंग—

राका रस बरसाती अमृत किरण डाल
ग्रीष्म रवि रश्मियों से सृष्टि का प्रपाक है।
शरद वसन्त का विलास सृष्टि सुख हेतु
पावस शिशिर का प्रवाह भी महान एक
लक्ष्य लिये चलता है। यही क्रम जीवन का
यौवन भी जीवन का एक अति मृदु पल
विश्व दृढता के हेतु प्राप्त है जगत को।
विश्व के महान कार्य यौवन प्रसाद सुन,
अघनाश में भी यह यौवन प्रभास हैं।
राजनीति, धर्मनीति, सुख औ' समाजनीति
यौवन को सीमा में बिहरते सफल से।
पियो, सुखमद यह यौवन का तृप्ति-हीन,
तृप्ति-हीन प्राण अभिषिक्त हों विलास से।
तोड़ दो नियम जाल अनुदेश मेरा यह
सृष्टि का समग्र सुख उठो राह देखता।
पियो कण्ठ तक, पियो ओठ तक ढाल-ढाल,
यौवन महान है, अलभ्य है जगत में।
विश्व डूब जाये, भूति, विभव भी डूब जाये
प्रिये, पियो अमृत अजर मग्न मग्न हो।

मत्स्यगन्धा—

हाला-हल यह मधु पीना है कठिनतर
जीना है कठिनतम दारुण विपत्ति सा।
ले लो यह वरदान, (ले लो यह अभिशाप,)
लौटाओ अनंग यह वेदना समुद्र सी।
सीमा-हीन, अन्त-हीन, मन-हीन, प्राण-हीन
व्याहृति-विहीन स्वर्गसुख साध-हीन सी।

(आँखें बन्द कर लेती है।)

अनंग—

आजीवन यौवन का वरदान हे सुमुखि,
कब न हुआ है भार यौवन विफल का।
यह तो रुदन तेरा अन्त-हीन फल-हीन
आजीवन वेदना से जड़ित अपंग सा।

(प्रस्थान)

मत्स्यगन्धा—

हाय, मेरे जीवन का कैसा यह अपरूप
अपमान, क्षति है। न अन्त है अनंग रंग ?

(आँखें खोल कर देखती है कहीं भी कुछ नहीं है चारों ओर से बादल घिर आये हैं, सूर्य छिप गया है और घटाटोप अँधेरा छा गया है।)

डूबो नभ, डूबो रवि, डूबो शशि, तारिकाओ,

डूबो धरे, वेदना में मेरी ही युगान्त की।

(इतना कहकर एकदम मूर्छित हो जाती है, सब ओर सन्नाटा छा जाता है।)

राधा

पात्र

राधा

विशाखा

कृष्ण

चन्द्रावली

नारद

पहला दृश्य

समय—प्रातः आठ बजे

(निर्जन निकुंज में यमुना के तीर पर पुष्पों का मकरन्द उड़-उड़कर पवन के प्राणों को पुलकित कर रहा है। शैशव की भोली स्मृतियों की चादर को स्वप्न की तरह हटाकर कलियाँ कुसुमों के रंग में भर रही हैं। वर्षा के दिन हैं, सूर्य्य भी निकला है ; और पश्चिम की ओर से सघन घटा तूफ़ान की तरह उठ रही है। बीच-बीच में इधर-उधर छाये बादलों में स्वप्न की सत्यता की तरह सूर्य्य निकल आता है और यमुना के नीले जल पर तैरकर सूरजमुखी की तरह उसे पीला कर देता है। निकुंज में सब ओर पुष्पों, वृक्षों, लताओं, पौधों ने स्नान करके अपनी स्वाभाविक कान्ति को धारण कर लिया है। वहाँ उस समय सौन्दर्य की तरह उज्ज्वल तथा रमणीय, मद की तरह मस्त धीरे-धीरे एक रमणी आती है—धानी रंग की साड़ी पहने। हवा के हलके झकोरों से उसकी साड़ी हिल रही है। उसकी आकृति और छवि को देखकर ज्ञात होता है वह उस वातावरण से प्रभावित हो रही है। इधर देखती है, उधर देखती है। कभी एक फूल को तोड़ने बढ़ती है तो मानो उससे चिपट जाती है। तोड़ने का विचार छोड़कर वह उसे देखती ही रहती है, फिर यमुना की ओर देखती है। कभी कभी आ पड़नेवाली काले कपड़े पर पीली छींट

की तरह सघन छाया को निहारती है। फिर फूल तोड़कर सूँघती है, फिर सूँघती है। धीरे-धीरे उसकी आकृति किसी याद में गम्भीर हो उठती है। सारी सौन्दर्य-ज्ञालिमा, सम्पूर्ण चंचलता मानो चित्रपट की तरह धीरे-धीरे बदल रही हो। अवस्था से अधिक गंभीर वह रमणी एकाएक यमुना के किनारे बैठ जाती है—मूक, अर्धचेतन-सी, केवल स्वप्न की मूर्ति-सी अर्धजाग्रत; पैर यमुना के जल में, हाथ लहरों को थपथपाते हुए, ध्यान बिखरा हुआ। अचानक गाने लगती है।)

(गीत)

हो गया यह हास मेरा सब कहीं उपहास क्यों ?
मैं तिमिर में खोजती हूँ हृदय का उल्लास क्यों ?
मुक्त तारक-निचय ऊपर
खेलते खुल गगन-भू पर।
रे, धरा का दीप बन जल चाहता आकाश क्यों ?
बूँद-सा अधिकार तेरा,
चमक लघु, पर गुरु अँधेरा,
मन अँधेरे में उजेले की रहा कर आस क्यों ?
हृदय की कहने न पाती,
उमँग उठती बैठ जाती,
मैं रही हूँ दूर जिनसे वह बुलाते पास क्यों ?
हो गया यह हास मेरा सब कहीं उपहास क्यों ?

(इस गीत की ध्वनि मानो प्रत्येक प्रकृति-प्रान्तर से प्रतिध्वनित

हो उठी है। वह चारों ओर देखती है। इतने में बादल जोर से गर्जने लगता है। उसी भाव से—)

उठ रही घनघोर काली-व्यालिनी बदली मनोहर,
एक पुंजीभूत दुख-सी मूर्ति-सी नैराश्य की बन
छीनती-सी हृदय का सब स्वच्छ सुख-कादम्ब मेरा;
भूधरों के शिखर पर सोती हुई-सी करवटें ले
आँख में आँसू भरे मन में विरह की ज्वाल-माला
इधर बढ़ती आ रही है घूम जाग्रत-प्राण पल पल।
उधर वह रवि हँस रहा है फुल्ल, पुलकित, लाल, पीला
क्षितिज की मृदु गोद से उठ छिन्नमुख अनुराग-गीला
चूमता मुख किसलयों का, कुसुम का अनुरक्त आनन।
मृदु-मदिर-मकरंद पीती जा रही है ये सुनहली—
अप्सरायें सुतनु चंचल कौन जाने, कौन आशा,
कौन जागृति, कौन सपने, कौन वाणी, कौन-सा सुख
हृदय में अपने छिपाये, प्राण में अपने पिरोये,
श्वास में अपने भिगोये मन्द मन्द सुगन्ध सुन्दर?
सुलघु पल-सी; लाल, पीली औ' लजीली स्वप्न-धन-सी
तैरती हैं ज्यों कहीं से ला रहीं संवाद मीठा,
और यमुना की लहर में, प्राण में छिप भर रही हैं
प्रेम का ध्रुव मिलन, प्रति दिन हृदय का कण कण सुमिश्रण,
लहर से किरणें मिलीं ज्यों हृदय से जलता हृदय हो।

पर न जाने मैं किसीके स्वप्न-सी क्यों खो रही हूँ
आस ले, अनुराग ले, उत्ताल-मानस में प्रलय भर;
किसी घन के विन्दु-सी किसलय, कुसुम, तृण, ताल में गिर
और गिर अंगार पर स्मृति-चिह्न हाँहाकार का ले ?
इस नदी की लहर-सी टकरा रही, छितरा रही हूँ
और वहती जा रही अज्ञात पथ में भूल सब कुछ,
भूल सव अपना पराया स्मृति-विफल का भार लेकर
ढो रही हूँ, क्या न जाने, क्या न जाने खो रही हूँ ?
कर दिवसकर जग प्रकाशित स्वयं जलता जा रहा है,
पर न आलोकित किया मैंने किसीको स्वयं जलकर।
एक मृदु मुसकान उस दिन की समाई आँख में है
जो हृदय को छील क्षत-सी उभरती अनुरागमंडित।

(विशाखा का प्रवेश)

विशाखा—

आज जीवन की उषा में हृदय में औदास्य भरकर
तुम निराले ढंग से क्या सोचती हो मलिन-तनमन ?
विश्व का उद्गार, वैभव समुज्ज्वल सुख-साधना का
क्या तुम्हें आनन्द-सा उद्बुद्ध करता है न कुछ भी ?
यहाँ, इस एकान्त में अत्यन्त निर्जन में सुमुखि, क्या
विश्व अनुपल जगमगाता और हँसता स्वर्ग-सा प्रिय
देख पड़ता कुछ न तुमको भरा-सा सुख-रागमय यह ?

राधा—(मदालसिता-सी)

हम किसीके स्वप्न की सुख-राशि सखि, यौवन-प्रखर की
लालिमा, अत्युग्र मानो किसी कवि की कल्पना बन
उतर आईं स्वर्ग से अपवर्ग के आनन्द में सन;
और धीरे उमड़ती-सी मद-भरी बदली उभरती
छा गई हो गगन-जग में कहीं से उड़, कहीं से बह;
वही हम। छल छल छलकता प्यार से भीगा हुआ-सा
स्नेह-सा मीठा, हँसी-सा शुभ्र, तारक-सा चमकता
मधुर जीवन क्या न जाने बोलता मीठा मृदुल री,—
स्रोत, सरिता, उदधि, तारक, कुसुम सार्थक जिसे पाकर
वरद के वरदान-सा आकण्ठ-तृष्णा-तृप्त जीवन।
किन्तु मैंने क्यों न पाया वही अक्षय-स्रोत-आकर
कह रहा है साध को जो सो रही थी जागकर भी ?
हा, न मैं वह भूल पाई एक छवि जो दृष्टि में आ
कहीं रागों में समाई, विकल प्राणों से बिखर कर
मुझे ही विक्षत किया सखि, मुझे ही पीयूष-घन दे।
मैं नदी-सी बह रही थी स्वयं अपने बाहु के ही
दो बनाकर, दो किनारे। मग्न थी अपने हृदय में,
मग्न थी बहती चली ही आ रही अनजान पथ से
कुछ न लेकर, कुछ न पाकर; एक केवल आस थी यह
अन्य जन-सी भव-उदधि से पार होऊँगी, कभी हँस,

कभी रोकर भी बिता दूँगी विशाखा, विरह-सा यह
दीर्घ-जीवन-महापथ परिचित न होकर भी किसी से ?

विशाखा—

तो हुआ क्या ?

राधा—

क्या हुआ, मैं मग्न थी अपनी लहर में
पर न जाने दृष्टिपथ में आ गये वे क्या कहूँ री !
वज्र-कीलित-से हुए उत्कीर्ण-से मेरे हृदय में।
गाय-बछड़े स्तब्ध थे, नीरव दिगन्त, दिशान्त, नभ भी
एकटक सब मूक-से, जड-से, जडित-से, द्रवित-से,
लघु-से, रहित-जीवन सभी जलचर गगनचारी दिखे,
हुआ क्या उस समय सबको पुतलियों-सा हो गया जग;
ज्यों नचाती हो कहीं कोई अपरिमित-शक्ति लेकर
ध्रुव, अटल, मनहर, चराचर की वशीकर राग-प्रतिमा।

विशाखा—

कृष्ण के सम्बन्ध में यह कह रही हो प्रिय सहेली,
सह्य होगा क्या जनक को कंस का सामन्त है जो,
है जिसे मर्याद प्रिय औ' धर्म का पालन महाप्रिय;
धर्म के हित जिसे जग भी हेय-अनुपादेय राधे ?
कहेगा, 'यह वंश-द्रुम-दावा लगाने जा रही है
शुद्ध सन्तति आज उसकी, व्यर्थ में कुल कर कलंकित।'
कहेगा, 'केवल पिता का वंश ही इससे न दूषित

महाकुल सम्भ्रान्त पतिका भी कलंकित हो गया है।'
कहेगा, 'आदर्श बनना चाहिए था, चाहिए था
व्रज-समस्त-कुलांगना को महा पातक से बचाना;
और इस अंधे प्रमादी उम्र-यौवन से न जो कुछ
देख ही सकता न सुनने का जिसे अभ्यास कोई।'

राधा—

जानती हूँ सखी, यह सब, वश नहीं है किन्तु मेरा।

विशाखा—

भूलने वाली नहीं थी भूल जाने क्यों गई है!
हाय, भीगे बिना क्या सखि, भव-नदी तैरी न जाती?

राधा—(विवश-सी होकर)

क्या करूँ, कैसे करूँ, सब कुछ हुआ विपरीत जीवन,
कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मैं
पैर ले जाते मुझे अनजान में यमुना नदी-तट।
क्या तुझे कुछ भी न होता, यह मुझे क्या हो गया है?

विशाखा—

हाय, कितना सरल, कोमल, तरल है नारी-हृदय यह
दूध-सा मीठा, धवल, निश्छल बनाया कौन विधि ने
जो पिघलता स्वयं गल गल प्रेम औ' सौन्दर्य पाकर
और खिलता है कुमुद-सा स्वयं ही विधु-प्रिय निरखकर
देखता कुछ भी न कोई नियम-बंधन धर्म जग का!

राधा—

मुझे क्या था ज्ञात मेरा सुख बनेगी द्वन्द्व-दावा
और जीवन का विरस जलकर जलाती ही रहेगी !

विशाखा—(पास जाकर)

सखी, तुझसे क्या कहूँ जाने विधाता ने लिखा क्या ?

राधा—

उस मुकुट-छवि-माधुरी पर सभी कुछ अर्पण हुआ है।

विशाखा—

मानवी क्या दानवी, देवी, नगी, सुर, असुर, किन्नर,
यक्ष औ' गन्धर्व जाने मूक-से क्यों हो गये हैं ?
तान सुनकर तरु-लता, नद-नदी, जड़; नक्षत्र-भूधर
भूल मानो सब गये हैं। कौन जाने स्वर-लहर वह
कौन जादू से भरी है प्रणय के निश्वास-भीगी।

राधा—(जागती-सी)

सभी अन्तर में वही छवि, सभी प्राणों में वही स्वर,
सभी भावों में वही धुन, सभी गीतों में वही लय;
वृक्ष जैसे मूक-से मृदु-तान सुनने को समुत्सुक,
नदी जैसे तृषित-सी, लहरें महाआकुल भ्रमित-पथ,
प्राण हो सब विश्व का केवल जडित उस मुरलिका में !
सुना मैंने बहुत दिन देखा कि जब डूबा हृदय सब
प्राण जीवन-माधुरी की लहर में घुल घुल गया मिल !

कौन-सा माधुर्य लेकर धरा पर उतरा कि उसने
बना डाला जगत पागल, व्यथित कर डाला हृदय री;
और मथडाले पुराने सभी वे संस्कार-सागर,
पीस डाली रूढियाँ औ' ढहा डाले नियम जग के !

विशाखा—

हम विशद ध्रुव-सत्य-सी पति-भक्ति की मर्याद वाली
चली आती थीं न जाने कहाँ से इतिहास-सी बन
चित्र-सी, निर्बाध सरिता-सी असीमित रागिनी-सी।

राधा—

देखती हूँ सभी बन्धन, शक्तियाँ, मर्याद, सीमा,
अवधि सारी तोड़ डाली इस अलौकिक व्यक्ति ने आ !

विशाखा—

क्या कहूँ किससे सखी, मैं भूल सारे नियम-बन्धन,
छोड़ जग-आचार-लज्जा घूमती ले हृदय-विह्वल
रात-दिन, संध्या-सबेरे, दुपहरी इस कुंज-बन में।
गूँजती है कान में ध्वनि, प्रतिक्षण वह रूप, वह छवि
नेत्र में। सब खो गया है, हो गया है कृष्णमय जग।

राधा—

तब न मैं ही हूँ अकेली सब कुसुम ही शूल-सहचर।

विशाखा—

अभी उस दिन घूम-फिर कर देर से लौटी जभी घर,

देख माता ने भयंकर भर्त्सना की, काँप गया मन,
डाल निशि-भर घुप-अँधेरी कोठरी में अन्न-जल बिन
मार कोड़ों की लगाई प्राण तक भी तिलमिलाये,
पर न फिर भी भूल पाई उसे, मानस-प्राण-धन को।
मुक्त होते ही चली उस ओर, फिर भी उसी घर को।
'यह कहूँगी,' 'यों कहूँगी' नई गढ़ कर बात उनसे
किन्तु भूली देखकर छवि, मुस्कराहट सभी सुध-बुध।
और जब पूछा यशोदा ने कि "क्यों आई यहाँ फिर
जननि तेरी गालियाँ सौ सौ सुनाकर अभी लौटी?
क्या बिगाड़ा कृष्ण ने सबका कि उससे क्रुद्ध जग है?
सभी आतीं ग्वालिनें अभियोग लेकर नित्य नूतन
और पाकर कृष्ण को संकेत से मानो बुलातीं,
मुझे लखकर गालियाँ देतीं, उलहने भी सुनातीं
हैं उसी के? क्या कहूँ मैं हैं विकट अभियोग सुत के।।"
कृष्ण से कहने लगीं—"सुत, हैं तुम्हारे शत्रु सारे।"
फिर अचानक वज्र-सा आकर लगा पाया कि उसने
कृष्ण के सँग बात करते और हँसते-मुसकराते;
धरा-सी खिसकी पगों से मैं प्रभाहत और लज्जित
हो गई पानी, भगी लेकर मनोरथ अधफले ही।
खोजती हूँ तभी से इस कुंज में आकर निरन्तर
दृष्टि भरकर छवि निरखने और ध्वनि सुनने जड़ित-सी

देखती, मैं ही नहीं, यह जगत सारा
हुआ पागल।

राधा—(सूखी हँसी हँसकर)
धन्य तू हँस बोलती उनसे ललककर प्रिय विशाखा !
हाय, लज्जा-स्नात-सी, जकड़ी हुई, जीती-मरी-सी
मैं न उनको सुना पाई दृष्टि भरकर सामने हो
हृदय की गाथा सखी, जो गूँथ युग से थी सहेजी।
क्या न कोई यत्न ऐसा—

विशाखा—
प्रिय-मिलन दर्शन निरन्तर !

राधा—
चाहती हूँ,

विशाखा—
पर विषम उस मार्ग पर चलना पड़ेगा।

राधा—
यही बस, मैं लाज तज, मर्याद-बन्धन तोड़, कुल-जग,
त्याग सब कुछ बन वियोगिनि मुक्तजीवन हो सकूँ री।
है यही इच्छा मुझे प्रिय, है यही कांक्षा मुझे सखि !
ब्याह से ही पूर्व बचपन में मुझे ऐसा लगा अलि,
है न कोई पति हमारा औ' न हम नारी किसी की,
किन्तु विधिना ने न जाने क्यों मुझे फिर बाँध डाला

जगत-बन्धन में। न कोई किसी का बन्धन मुझे प्रिय।
दम्पती के धर्म का पालन न मैं कर पा रही हूँ,
पति-वियोगी मैं विनिस्पृह, आज तक दोनों अपरिचित,
अमरवल्ली-सा न जाने कौन तरु-जीवन हमारा।
नाव पर बैठा दिया है अपरिचित मल्लाह की री,
पार करने को मुझे संसार-सागर, कौन जाने
कौन वह, मैं कौन, केवल एक झोंके से मिले हैं ?

विशाखा—(आश्चर्य से)

देखती पीयूषधारा मेघ से होकर समुज्झित
मचलती आकाश से उन्मुक्त उतरेगी धरा पर
और जीवन में अनश्वर सुरभि-सी भरती हृदय को—
विश्व की वासन्तिका में अमरवल्ली हो रहेगी।
या कि फिर निःशेष हो, गिर तुहिन-सी दल-किसलयों से,
भर्त्सना की व्याल-जिह्वा का विषम विष हो जलेगी !
आ चलें, देखें किधर, कैसे, कहाँ उन्माद जाता
मूर्त-सा उन्मूर्त-सा विश्वास की आराधना को ?

राधा—

हाँ चलो यह हृदय का द्रव बह चले उस ओर, उस पथ,
जहाँ जवन-गर्त्त में तैरा करे, डूबा करे री !

दूसरा दृश्य

समय—रात्रि का प्रारम्भ

(उसी निकुंज में यमुना का तट। वर्षा के बाद सब कुछ धुल-सा गया है। सब ओर हरियाली दिखाई दे रही है। मोगरा, गैंदा, मालती, गुलाब के फूल खिले हुए हैं। उनकी सुरभि से सम्पूर्ण प्रदेश महक उठा है। यमुना के किनारे वट का एक वृक्ष है, जिसकी सघन छाया में पूर्णिमा के चन्द्रमा का प्रकाश छन-छन कर गिर रहा है। अवकाश में प्रकाश का रूप कहीं गोल, कहीं चौड़ा, कहीं त्रिकोण, कहीं चतुर्भुज होकर पड़ रहा है। सामने यमुना बह रही है। उसकी धार पर चन्द्रमा की किरणें चाँदी की वक्र नालिकाओं के समान देख पड़ रही हैं। कभी-कभी ऐसा देख पड़ता है मानो यमुना की सतह पर किसीने चाँदी बिछा दी हो या कहीं से अनन्त हीरक-राशि लाकर उड़ेल दी हो या नीले जल पर किसीने स्फटिक का बुरादा बिखेर दिया हो। वहीं कुछ हटकर शुभ्र प्रकाश में कृष्ण वंशी बजा रहे हैं। कोई पास नहीं है फिर भी ऐसा देख पड़ता है मानो जल का देवता वरुण तथा वृक्षों की अधिपति वनदेवी अपने सम्पूर्ण यौवन-प्रहरियों के साथ शिथिल-सी, अलसाई-सी वर्त्तमान है। कृष्ण का रूप उस समय के आकाश के समान स्वच्छ और मधुर; सिर पर मुकुट, पीठ तक लहराते हुए बाल जो काली रेशमी डोरी से बाँध

दिये गए हैं। प्रशस्त ललाट, चमकता मुख, उभरी नुकीली नाक, रेख फूट रही है। वलिष्ठ बाहु, सुता हुआ गठीला शरीर, न बहुत लम्बा न छोटा कद। कमर में फेंटा कसा हुआ, पीला तथा रेशमी वस्त्र, भोली भाव-भंगी, ज्ञानमण्डित मुखाकृति, सरसता और सरलता तथा सौन्दर्य के अवतार। वंशी में जैजैवन्ती राग बज रहा है। स्वरलहरी मानो उस सम्पूर्ण प्रदेश में प्रतिध्वनित हो रही है। केवल वंशी का स्वर है और सब मूक। वंशी बजते-बजते इतनी तन्मयता छा जाती है कि पक्षी जो कभी पहले चहक उठते थे वे भी चुप हो गए हैं, मानो किसी ने उन्हें मंत्र-मुग्ध कर दिया हो और सौन्दर्य-सरसता का सम्पूर्ण चित्र बन का वह भाग हो गया हो। वंशी बजती ही रहती है और देख पड़ता है गायें भागी चली आ रही हैं और आकर कृष्ण के पास खड़ी हो गई हैं—चुप। बछड़े जो कुछ गायों के पीछे दौड़ रहे थे, रंभा भी रहे थे, आकर एकदम चुप हो गए हैं। उन्होंने दूध पीना छोड़ दिया है। पवन की लहर, यमुना की तरंगें मानो वंशी की लय पर ताल देने लगी हैं। इसी समय वेग से दौड़ती हुई राधा आती है। अस्त-व्यस्त वस्त्र, चंचल किन्तु उद्विग्न मुखाकृति। वयस यौवन के उभार पर, दूध-सा श्वेत शरीर, रति मानो संसार के समस्त सौन्दर्य से प्रफुल्लित होकर उसी एक रमणी में साकार हो गई हो। वर्णनातीत सौन्दर्य, शैशव-सा भोलापन, समुद्र-सा गाम्भीर्य, पर्वत-सी स्थिरता और नदी का-सा वेग हृदय में भरा है—किन्तु उस पर भी शान्त। निकट आकर मन्द गति धारण किये और फिर सामने स्थिर रहकर मूक हो जाती है। उसकी चेष्टा से मालूम होता है

वह दौड़ती हुई चली आ रही थी, किसी आकर्षण से खिंची चली आ रही थी और पास आकर सब कुछ भूल गई है। उसके हृदय में समुद्र का ज्वार था जो कृष्ण को देख कर भाटे के समान शान्त हो गया है। वह मूक है, निर्वाक् है, स्थिर है और वंशीमय हो रही है। दोनों आमने-सामने खड़े हैं। राधा वंशी-स्वर में इतनी तल्लीन है कि वह आँख फाड़े हुए कृष्ण को पूरी तरह नहीं देख पा रही है, केवल वंशी का स्वर ही सुन रही है। उस समय उसे न यमुना दिखाई देती है, न बन का रेह सौन्दर्य, न चन्द्रमा का प्रकाश। कृष्ण भी वंशी में तन्मय हैं। साव अंग-प्रत्यंग की चेतना मानो वंशीमय हो गई है। एकाएक वंशी बजना बंद हो जाता है, बहुत देर दोनों आँखें बन्द किये मूक से खड़े रहते हैं। कुछ समय के बाद—)

राधा—

मग्न जीवन-निविड-तम में प्रकाशित मीठी लहर से
कौन तुम अनुरागसागर, कौन तुम मन्मथ हृदय के ?
अरे बोलो, प्राण बोलो, तान ऐसी छोड़ दी क्यों,
सभी जृम्भित गात्र मेरा, सभी कम्पित विश्व कानन,
अंग रोमांचित हुए हैं, रोम हैं उद्बुद्ध-चेतन,
सुन रहे रह रह प्रमाथी अंग अंग समुर्वरित-से ?

कृष्ण—(सरल स्वभाव से)

विश्व-कणकण में सुवासित व्याप्त है पीयूष-सरिता
जो हुई प्रच्छन्न नर की कालिमा से, छल-कपट से,

उसी को जाग्रत किया है प्राण ने वंशी-लहर से।
तुम पियो, यह जग पिये, अक्षय मधुर-रस प्राण-पावन
हृदय में भरता रहे उच्छ्‌वास की गति-सी मनोहर।
मैं लहर हूँ एक उसकी, उसी सुख की, उसी स्वर की।

राधा—

किन्तु रह रह मथन करती क्यों हृदय को यह हमारे,
क्यों हमारे प्राण में मानस-विषय उठते इसे सुन ?
क्या नहीं व्रजमात्र में यह मुरलि की ध्वनि और सुन्दर,
आपकी छवि हमें उस अग्राह्य पथ का पथिक करती ?
क्या न तुम व्रज की कुलीना अंगनाओं को लुभाते
वेणु मीठी-सी बजाकर मनोहर एकान्त में आ,
इस निशा में, यहाँ तट पर; है जहाँ सन्देशवाहक
विहग का रुत, सुमन-मारुत, दुग्ध-फेनिल इन्दु-किरणें,
पुष्प का सौन्दर्य सुरभित द्विगुण, शतगुण, प्राणकर्षण
मन्दमद मकरन्द विह्वल हृदय मथने को चतुरतर
और उन अज्ञान ललना-जनों को है खींच लाता
जो न कुछ भी जानती हैं हेय क्या, आदेय क्या है ?

कृष्ण—(अट्टहास करके)

अरे, यह अभियोग व्रज की अंगना का आज सुनकर
मुग्ध वनमाली हुआ है क्षुब्ध औ' अस्तब्ध दोनों,
दोष इसमें है न मेरा—

राधा—(खीझकर)   सत्य है अपराध उसका
जहाँ बन के चतुर्दिक दावा लगाकर छोड़ देना
नर अकेला हीन-साधन, भ्रष्ट-पथ, फिर उसे कहना,
यह जडितमति क्यों घिरा आ—

कृष्ण—(हंसकर)   नदी का अपराध ही क्या
जो वही जाती प्रकृत गति उफनती, चढ़ती, उतरती
एक अपनी ही दिशा में सजल करने दग्ध जग को
यदि वहाँ अज्ञान कोई जानता है जो न तिरना
कूदता गहरे सलिल में उभरने की साध लेकर ?

राधा—(उसी भाव से)
हे चतुर, अभियोग हम पर यह लगाया आपने है,
मुग्धमति अनजान नारी जिन्होंने कुछ भी न देखा,
एक केवल, एक सीढ़ी पार ही जो कर सकी हैं,
और जो कुछ भी न जाने हृदय-अर्पण की क्रियाएँ।
यह न क्या है उस तरह, शिशु-हाथ में दे अस्त्र कोई,
व्यर्थ ही विश्वास उसका, कर न अपना काट लेगा ?
हम समझती हैं नगर की नारियाँ भी देख छवि को
हृदयकर्षक वेणु की ध्वनि सुन समर्पण मन करेंगीं।
आपकी यह भुवनमोहिनि छवि निरख कर कौन नारी,
कौन कुलना, कौन रमणी, धधकती जिसमें पिपासा,
विश्व की है जो न अपनी लाज-कुल-मर्याद तजकर

प्रेम पति का, पिता का, माता-बहन का, बन्धुजन का
त्याग होगी नहीं लज्जाहीन रतिगति-भ्रान्त युवती ?
कौन है वह जो उफनते हृदय के अनुराग को मथ
पथ-विपथ, अथ हृदय-मन्मथ-भरे सागर से मनोरथ
विश्ववन्द्य अनिन्द्य प्रतिमा में न आकर लीन होगी ?

कृष्ण—

व्यर्थ है कहना तुम्हारा तनिक देखो, इधर देखो,
हरित भूधर, पूर्ण शशि, उत्तुंगमाली, अतल सागर,
उफनती सरिता, प्रतापी सतत-निर्झर, उषा सुन्दर,
सांध्य-लाली, क्षितिज-शोभा, धवल-रजनी, फुल्ल कानन,
मृदु-मदिर मकरंद पावन, पवन मीठा, हिम-फुहारे,
प्रकृति के उपहार मंजुल, दग्ध के आधार सुखकर,
—क्या सभी ये विषयवाहक, क्या इसी को जन्म इनका ?
है नहीं सौंदर्य का संगीत का उद्देश्य राधे,
वासनावादी बनाना किसी को उत्तप्त करके।
विश्व का सौंदर्य देखो, वह रहा छल छल छलकता
स्थूल से, लघु से, महत् से, धरा से, नभ से निरन्तर;
और कण कण में अपारानंद-राशि बिखर रही है
प्राण सीमा को असीमित सरस सागर कर अधिकतर;
क्या न है उद्देश्य कोई प्रेम का, सौन्दर्य का भी
सिवा केवल विषय का सुख और इन्द्रिय तृप्ति चंचल ?

राधा—

प्रेम क्या यह नहीं, कहता जगत जिसको हृदय-तर्पण,
मन-समर्पण, तन-विसर्जन, प्राण प्रिय के चरण में गिर ?

कृष्ण—

यह नहीं है प्रेम, यह उन्माद का है रूप गर्हित
देख सुन्दरतर किसी को वासना आकृष्ट होती।
प्रेम अनुभव के पुलक में स्रोत-सा आनन्द में भर
प्राण को, मन को न्हिलाता विसुध-सा करके—तभी तक
प्रेम है वह शुद्ध राधे ! वासना उससे उभरती
यदि हृदय में शक्ति का प्राचुर्य उसके हो न पूरा;
उसे जड़ जग प्रेम कहकर व्यर्थ का भ्रम पालता है।
प्रकृति के सौन्दर्य से पुलकित हृदय-विह्वल बना-सा
क्या न शुद्धानन्द देता मत्त-सा करके जगत को ?
प्रेम आकर्षण, तथा आनन्द आत्मा की अलंकृति
उसे तन का दास बनने नहीं देना शुद्ध, सुन्दरि !

राधा—

किन्तु क्या यह प्रकृत-सम्भव ?

कृष्ण—

है न कोई कुछ असम्भव।
क्या न हम निर्माण करते निज नियति, गति आत्म-रति ले,
कौन-सा है कार्य जो आहार्य कर सकता न मानव ?

धरा का कर हृद्विदारण सलिल इच्छित प्राप्त करता
और भूधर को शिखरयुत चूर्ण कर कण कण बनाकर
एक सम करके तथा सागर सभी मथ डालता है।

राधा—

क्या कहूँ, कुछ कह न पाती जानती भी तो नहीं हूँ।
जानती हूँ यही केवल गुनगुनाता है हृदय यह।
प्राण, मैं अंगारिका हिम-राशि पर धुक-धुक सुलगती
जल रही सौन्दर्य के मृदु गर्व में भर और भर कर
वह जलन, जिसके उजाले में पिघलतीं वे सुशीतल,
हृदय-वल्लभ, स्नेह-कणिका जिन्हें चुम्बन हेतु आकुल
अथक-उच्छल-अवल-आशा दिवस में निशि-स्वप्न पाती,
मैं विरह-सौदामिनी की ध्रुव तथा अस्थिर अमृत-सी
अग्नि-मदिरा पी हुई साकार सब आकार भूली।
वह्नि-वीणा बन गई वंशी-लहर मेरे हृदय में।
प्राण के संगीत-गायक, मैं न कुछ भी समझ पाई
ज्ञान-गाथा तर्कना युत, गहन औ' गंभीर बातें;
मैं न कुछ भी जानती हूँ, जानती हूँ एक केवल
मचलने वाला मिला मन, मनोरथ जिसमें सहस्रों
किसी मधु में निमज्जित हो स्वप्न का संसार रचकर
गा रहे हैं क्या न जाने समझ पाना दूर माधव !
चाहती, क्या चाहती हूँ, कुछ नहीं, पर चाहती हूँ

एक तुम हो, एक वंशी, मैं सुनूँ, सुनती रहूँ निशि-
दिवस, पल-पल, पक्ष, ऋतु-ऋतु, वर्ष, युग-कल्पान्त तक भी।

कृष्ण—(सोचते हुए)

मैं जगत का पाप, मिथ्याचार, छल, विद्वेष हरने
और वास्तव धर्म की संस्थापना का सुनिश्चय ले,
तथा नैतिक प्रेम का ही रूप जग को दिखाने को
यहाँ आया हूँ महाव्रत यही मेरा सत्य राधे !
है न मुझमें पाप कोई, शुद्ध सत्य, अनन्त, अतिबल।

राधा—(कृष्ण की कोई बात भी न समझकर निहोरे के ढंग से—)

सत्य कहना हे कन्हैया, तुम न साधारण मनुज हो,
इन्द्र के अवतार हो या वाम-काम-प्रपंच हो प्रिय ?
वृद्ध विधिना की न रचना, तुम्हारे सब कर्म न्यारे,
रूप यह जो दामिनी से भी अधिक उर्जस्व, वर्चस्,
काम से सुन्दर, कला के पूर्ण, अशिथिल, सृजन, चित्रण,
चन्द्र से शीतल, मधुर, मोहक, हृदय-से विशद-वल्लभ
सत्य-से सुस्पष्ट, मादक सुरा-से, पीयूष-से मधु,
यज्ञ-से अति कर्म, हुत-से ज्वलन, दावा-से भयावह,
प्राण से अति सूक्ष्म संचालन, प्रचालन कर्म से गुरु
गहन गाथा हे अनिर्वचनीय माधव, ब्रह्म जग के !

(हाथ जोड़े खड़ी रहती है।)

कृष्ण—(अपनी स्तुति सुनकर उपेक्षा की हंसी हंसते हुए—)

यह न मैं कुछ जानता हूँ स्नेह का उद्गार राधे !

किन्तु यह मैं मानता हूँ सभी में हैं शक्ति के कण।

राधा—(निहोरे के ढंग से)

फिर सुनाओ वही वंशी-तान गायक, फिर सुनाओ;
सुनूँ ले दृग के सभी आलोक-पथ, उन्मुक्त-चिन्ता,
हृदय-अन्त-स्तर सुचेतन-तन्तुओं के द्वार दुर्वल;
पट कपट के, अन्ध-श्रद्धा, रूढियों के, वन्धनों के
और नर की अन्ध-ईहा रचित विश्लथ खोल सब पथ।
मैं सुनूँ सर्वाङ्ग से, सब कामना से, चेतना से
हृदय की। अधिकार के उद्वेग भस्मीभूत करती
प्रणय के उत्ताप को वडवाग्नि-सा फैला कन्हैया ?
फिर सुनाओ वही वंशी, मैं सुनूँ यह तरु-लताएँ
कुसुम-कुंकुम वात में भर विलसिता-सी, अपहृता-सी
सुरा के मस्तिष्कगत-अधिकार-सी नाचा करें प्रिय !
फिर सुनाओ वही वंशी, मैं सुनूँ यह जग सुने प्रिय,
लहर-सा लहरा उठे थिर थिर थिरकता जगत-सागर
और गूँजे तान वह पल में, विपल में, दिवस-निशि में,
धरा पर, आकाश में, उन्चास पवनों में निरन्तर।

(कृष्ण वंशी होंठों से लगाकर बजाना प्रारम्भ कर देते हैं। राधा मुग्ध-सी खड़ी होकर सुनती रहती है। होते-होते वंशी की ध्वनि इतनी तीव्र हो जाती है कि इधर-उधर से भागती राधा की सखियाँ आ जाती हैं और मूक-सी, वंशी की लय में लीन हो जाती हैं। मानो उनके अंग-

अंग शिथिल हो गए हैं। चेतना सरस होकर वंशी की लय बन गई। एकाएक लय के साथ ताल देकर नाचने लगती हैं। राधा भी उन्हीं में सम्मिलित होकर नाचने लगती है, उस समय छम-छम की ध्वनि से सारा प्रदेश गूंज उठता है। धीरे-धीरे चन्द्रमा अस्ताचल की ओर जा ने लगता है। बहुत देर नाचते रहने और वंशी-वादन के बाद—)

विशाखा—(जाग्रत-सी होकर)

हृदय मन्मथ-सौख्य से श्लथ, विसुध गृह पथ आज मैं री,
छहरता-सा चल तरल-जल लहर-सा तन-मन तरंगित।

चन्द्रावली—

प्राण चंचल, हृदय विह्वल, विश्व-संबल कृष्ण केवल।

राधा—(भूली हुई-सी)

सुरभि-विह्वल इस निशा में भानुजा के रम्य तट पर
प्राण की सब चेतनाएँ एक स्वर से गा रही हैं,
गा रही हैं री, मधुरतर हृदय का अनुराग पीकर
मन्दवासित पवन-कम्पन मन भरे स्वर-ताल सारे।
शशि-किरण-सी छलछलाती शुभ्र हीरक-रेख तिरछी
काँपती-सी गुनगुनाती सुन रही हूँ वही स्वर लें
औ' उसी लय में भिगोकर उत्तरंगिनि निज तरंगें
भर उमंगें, विश्व-कण के पुलक में आशा सँजोए
चाल से गातीं, थिरकतीं, उभरतीं, फैलीं, मिलीं-सी
उसी ध्वनि से, उसी स्वर से, उसी लय से, मूर्छना से,

ताल में न्हाई हुई संकोच लघु छाई हुई-सी
पथ-विपथ का, तरु-कुसुम का, सुखद-सा अरमान भरकर
आज मेरे लघु हृदय में विश्व का मद झर रही है।
मैं सभी भूली, कहाँ हूँ, कौन हूँ, क्या रूप मेरा
एक गीत समस्त-सी अविरल अखिल की मूर्ति मंजुल।

विशाखा—

आस, इच्छा औ' सभी आकांक्षा, अधिकार भूली
क्या न जाने हो गई हूँ रति-विरति की एक ध्वनि ही।

सब—(कृष्णा की ओर संकेत करके गाती हैं—)

(गीत)

हम कितनी लघु, कितना जीवन, कितना मीठा संसार सखे!
सरिता भी लघु, सागर भी लघु, आनन्द अनन्त-अपार सखे!
जो समा न पाता जीवन में,
जो बिखर न जाता जीवन में,
जो उठता रह-रह रोम-रोम,
जो फैला कण-कण, व्योम-व्योम,
अधखिली कली के स्वप्नों-सा हो उठा वही साकार सखे?
हम कितनी लघु, कितना जीवन—

कृष्णा—

है क्षणिक सभी कुछ यहाँ अरी,
छीजती विपल-पल प्राण-तरी,

अक्षय उस जीवन का प्रकाश,
जिसका जग केवल एक श्वास,
यह सभी कलाएँ निर्जर के निर्झर की सतत फुहार सखी।
हम कितने लघु, कितना जीवन--

राधा— लहरों-सा लहराता छल-छल,
बल खाता जाता सरिता-जल,
कलियाँ यह मीठी गन्धसनीं,
क्या नहीं हमारे लिए बनीं ?
हम क्यों न पियें छल-छल करते जीवन का पारावार सखे,
हम कितनी लघु, कितना जीवन—

कृष्ण—

है यही तो शुद्ध-सात्विक, सरस-रस जीवन मही पर
हो न उसमें यदि कहीं भी लेश मानव-वासना का।

विशाखा—

किन्तु यह तो कठिनतम है योगियों का कार्य होगा

चन्द्रावली—

हम अबोध, अजान माधव, जान यह कैसे सकेंगी ?

कृष्ण—

किन्तु हम में भी वही हैं प्राण जो इस जग के पुलक में
(गीत गाते हुए उठते हैं और उनके साथ सब उठती हैं।)

(गीत)

हम क्यों उसके पीछे डोलें जो भरता पावन राग नहीं,
भरता जीवन में है विष नित औ' भड़काता है आग कहीं
जिसने कर डाला 'इति-अथ' पथ,
लथपथ लथपथ सब रुधिर-सिक्त,
जिसने पी डाला मथ मथ मन
जग का विवेक कर प्राण-रिक्त।
उसके आँसू का बोझ सभी उड़ जाये बन्धन त्याग सही
हम क्यों उसके पीछे डोलें—

(दूर तक ध्वनि सुनाई देती है।)

तीसरा दृश्य

समय—रात्रि

(उसी कुंज में पहले की तरह सब ओर शरद की पूर्णिमा का प्रकाश फैल रहा है। चन्द्रोदय से सब ओर दुग्ध स्नात सा धवलित हो गया है आनन्द की तरह श्वेत। राधा उसी कुंज में एक शिलाखण्ड पर बैठी है। उसने वैसी एक वंशी बना ली है जो उस समय उसके हाथ में है। प्रतीक्षा से कभी राह की ओर देखती है, कभी चित्त के उद्वेग को दूर करने के लिए उठकर इधर-उधर घूमने लगती है। फिर बैठ जाती है, फिर लम्बी साँस लेकर खड़ी होकर देखने लगती है। पत्ते के खड़कने से चौकन्नी-सी होकर उधर देखने लगती है। इतने में एक ओर से आने की-सी आहट सुनाई देती है, सतर्क होकर उधर देखने लगती है, मानो क्षण-क्षण निश्चय की ओर बढ़ रहा है। छाया-सी कुछ पास आती देखती है। ध्यान से देखने पर जानती है कि एक गाय पास से आकर निकल गई है। हताश होकर फिर बैठ जाती है। एकाएक वंशी बजाने लगती है, बजाने का पूरा यत्न करने पर भी उसे ज्ञात होता है, वंशी ठीक नहीं बज रही है। स्वर बिखर कर बोल रहे हैं, लय नहीं सध पाती। फिर उठकर इधर-उधर फिरने लगती है। अन्त में गाने लगती है—)

(गीत)

चिर-प्रतीक्षा, चिर-मिलन की रात
उलझता क्यों आँधियों में भाग्य के अज्ञात।

हृदय की सब शृंखलाएँ
तोड़कर अनजान,
अलख सीमाहीन पथ को
चल पड़ी पथ मान।
एक साहस है पुराना,
एक टूटी आस।
कहाँ जाऊँगी न जाना,
कहाँ प्रिय का वास ?

कण्टकित-पथ, तिमिर-रजनी, धुन्ध-धूमिल-वात
चिर प्रतीक्षा, चिर मिलन की रात।

(विशाखा का प्रवेश)

विशाखा—

आज कोकिल कण्ठ से भी सरस मीठा गान सुनकर,
मुग्ध-सी मैं हो गई हूँ, हो गया तन-मन प्रफुल्लित
रोम रोम प्रहृष्ट राधे, हृदयहारी स्वर-लहर यह।
भर्त्सना, कटु-व्यंग्य, निर्वासन तथा अति दण्ड सारे
छिले छाले, पके क्षत की तरह सहती आ रही थी
किन्तु तेरे स्वर-मधुर ने, गीत ने पीड़ा बहा दी।

राधा—(उसी तन्मयता में)

भूत-आगत बीच वेला वर्त्तमान अमान लघु-सी
यह समीहित मधुर धारा आज आई कठिनता से,
पर न वे आये जिन्हें हम चिरन्तन अभिलाष रख उर
इस महान विकल्प जीवन में हृदय सम चाहती हैं।
आज के क्षण प्रतीक्षा के युगों से लम्बे न जाने,
प्रलय से भारी न जाने, याद से मीठे न जाने,
गरल औ' पीयूषमिश्रित तिमिर औ' आलोकमिश्रित।
क्या हुआ, वे क्यों न आये—एक स्वप्न पर समर्पित थी
सभी जीवन की शुभाशा, तप्त प्राणों की पिपासा।
क्या हुआ, वे क्यों न आये, बाँधकर जो ले गये हैं
सभी अन्तर की प्रतिध्वनि, गति, नियति, रति राशि राशि?
क्या हुआ वे क्यों न आये, देखती आँखें बिछाये
सम-विषम-पथ पर अकेली हृदय का स्पन्दन सुलाये,
क्या न तू कुछ भी कहेगी, क्या कहे बिन रह सकेगी,
क्या न है तूफान तेरे प्राण-मन में गगनचुम्बी ?

विशाखा—

मैं कहाँ जाऊँ सखी री, सब हुआ है व्यर्थ जीवन
उधर है परिवार मेरा, शत्रु मेरा, काल मेरा
भर्त्सना परिवार की सहते पका है आज यह मन।
इधर है यह आग जलती निशि-दिवस पल पल हृदय में

निठुर मन क्या मानता है पकड़ ली जो राह इसने,
—राह जिसका छोर कोई नहीं गाया सत्य तूने
'अलख, सीमाहीन पथ को चली सीमित मान' मैं भी।

राधा—

मैं कहूँ किससे कि होता क्या रहा है साथ मेरे,
अग्निदाह हुआ न जीवित का यही था शेष मुझको,
भर्त्सना, कुत्सा, अनादर, व्यंग्य, गर्हा क्या न पाया ?
अभी उस दिन क्या कहूँ री, श्वसुर मेरे गृह पधारे
कहीं से कुछ सुन-सुनाकर उचककर कहने लगे यों,
"मैं कुलीन महान सुत भी,—क्यों न यह जीती मरी है;
यह सुवंश-कलंकदायिनि, लांछिता, कुलटा, कृतघ्ना !
क्या इसे है लाज कोई नहीं, सब क्या धो गवाई ?
मैं न ऐसी से रखूँगा भूलकर सम्बन्ध कोई,
है पतित अथ गर्ह्य पातक-लांछिता वृषभान पुत्री।"
और इतना कह पिता से भग्न सब सम्बन्ध करके
चले ही तो गये माता-पिता को वरदान देकर
रुदन का, अपलाप का, पर मैं सुखी थी, दुःख छूटा;
किन्तु प्रातः हो न पाया एक अभिनव और आया
विनय, अनुनय, दीनता की, त्रास की प्रत्यक्ष-प्रतिमा।

विशाखा—

कौन था वह, कौन था सखि !

राधा—
वही जिसका जनक जल-भुन
दे गया सौ सौ मनोहर, शुद्ध, सालंकार गाली।

विशाखा—
हाँ, अरे हाँ ठीक, मैं भी सोचती थी कौन होगा ?

राधा—
खूब तत्ते हुए पहले पिता की अनुकारिता कर
किन्तु मैं तो मौन थी जड़, मूक-सी मानो किसी ने
सी दिये हों होंठ केवल कान थे श्रवणार्ह चेतन
सभी सुनने के लिए, औ' हृदय को पावक समझकर
हीन-प्रत्याशा अपरिमित शब्द जल से डुबो देकर
किसीने जैसे चुना हो पात्र निन्दा का मुझे ही।

विशाखा—
और है ही पास क्या विधि के नवाविष्कार नर के ?

राधा—
फिर विनय-अनुनय किया पादान्त समझाया बहुत-कुछ,
किन्तु मैं तो सत्य ही पाणिग्रहण से विरत ही थी।

विशाखा—
क्या न कन्या का बना अधिकार कोई भी कहीं भी
क्यों कड़ा प्रतिबंध निर्दय पिता के स्वेच्छाचरण का ?

राधा—
यही तो कहते कन्हैया, विश्व में है भ्रांति भारी,

नालियों से जिस तरह बहता निरन्तर वारि फिर भी
पंक, काई और फिसलन जमा रहता; रूढ़ियाँ भी
हैं इसी विध अंध का विश्वास भी तो सब जगह ही;
रूढ़ियाँ ही नर-पतन का एक कारण महापंकिल।
स्वयंवर ही शुद्ध विधि है जहाँ कन्या का सुनिश्चय
दृढ़ प्रतिज्ञा प्रकृति करती दीर्घ-जीवन-पथ-विनिर्णय।

विशाखा—

किन्तु माता-पिता भी तो योग्य वर ही ढूँढ़ते हैं?

राधा—

ठीक होगी यह प्रथा भी, किन्तु, मैं तो मानती हूँ,
सदा कन्या को वरण में स्वेच्छ होना चाहिए ही।
यही है अधिकार उसका, हैं पिता-माता स्वमत भी।
दान के ही पूर्व मैंने प्रकट अपना मत किया था।

(श्रीकृष्ण का प्रवेश। उस वनश्री तथा चंद्र-शोभा में राधा और विशाखा को देखकर)

कृष्ण—

अहा, यह क्या हो रहा है, इस शरद की पूर्णिमा में,
चन्द्रिका-विच्छुरित वेला मनहरण पल पल प्रकृति की,
विभव-सा बिखरा हुआ है राशि राशि अमन्द-सा समय?

विशाखा—

आपका क्या मत कन्हैया, है सुता-दायित्व के हित

क्या न कन्या को वरण में स्वेच्छ होना चाहिए ही ?

कृष्ण—

क्या कहूँ, मैंने न सोचा, जानता हूँ किन्तु इतना,
स्वयंवर ही है सनातन आर्य-सम्मत जनप्रथा शुभ,
किन्तु स्वेच्छा से वरण के अनन्तर कर्तव्य अपना
निभाना तो चाहिए फिर प्राण पर ही क्यों न बीते !

विशाखा—

आपका भी यही मत क्या, भूल हा, जग सब गया है ?

कृष्ण—

निडरपन, दृढ़ता यही दो गुण समाजाधार कारण
सभी जीवन में हमारे निरंतर यह गुण अपेक्षित,
किंतु 'दृढ़ता' का न है यह अर्थ 'परिवर्तन न होना'
सतत परिवर्तन जगत के श्वास में, अणु में भरा है।
यथा अपने स्वास्थ्य के हित अपेक्षित है स्नान-रेचन,
यथा गृह की शुद्धता के हित परिष्कृति ग्राह्य है अति
और है उद्यान तत्हित, विकर्तन, रोपण, विलोपन;
है अभीष्ट समाज को भी अनुपयोगी की विनिष्कृति,
और जीवन के लिए संग्राह्य उपयोगी प्रकृतगति।
ऋतु-कुसुम-सम कालकृत आदेय-हेय विधान बनते।
अनुपयोगी त्याज्य, उपयोगी सदा स्पृहणीय, है यह
एक तत्त्व महान्—

राधा— रहती फिर नहीं कोई व्यवस्था ।

जो किसी को अनुपयोगी अपर को उपयुक्त है वह ।

कृष्ण—

है विवेक समग्र मूलाधार मानव-चेतना का

फलाफल ही उचित निर्णय ज्ञान का अज्ञान का है ।

प्रकृति के अनुकूल अपने आप हैं सिद्धान्त जग में

वे सदा ही, सब समय ही एकसे रहते धरा पर ।

है विवाह महान दोनों प्राणियों का हृदय-कर्षण

स्नेह-दृढ करता उसे, सन्तति अलक्षित प्राणबन्धन ।

किन्तु, मानव-रचित वह संसार के औ' व्यक्ति के हित—

छेद्य होता हुआ भी अच्छेद्य माना धर्म ने है ।

राधा—

धर्म क्या है, जगत जिसके पल-विपल प्रत्येक पथ में

दुहाई देता रहा है, दे रहा है, क्या न जाने ?

कृष्ण—

धर्म है केवल समाजोन्नति, स्व-उन्नति, राष्ट्र-उन्नति

आत्म-चिन्तन, लोक-हित, कर्त्तव्य-पालन बस, यही तो ।

धर्म के दो रूप हैं : सामान्य और विशेष, जिनमें

प्रथम है प्राकृत सनातन, दूसरा मानव-रचित सब ।

पशु नहीं हैं, हम मनुज हैं, मनुज ही रहना अपेक्षित ।

है प्रधान समाज सब से, धर्म-शासन अंग उसके ।

मानवी मानव-सदृश ही अंग श्रेष्ठ समाज की है
सत्य-करुणा-स्नेह से जो सींचती है सृष्टि का तरु।
स्त्रीत्व जागृति-शान्ति-सुख है; युद्ध है नर का पराक्रम
जो दया के, स्नेह के औ' स्वार्थ के अतिरेक से उठ
कलह जीवन में मचाता क्रान्तियों को जन्म देकर।

विशाखा—(आश्चर्य से)
अरे, इतनी बहुत बातें कहाँ से जानीं कन्हैया ?

(कृष्ण मुसकराते हैं।)

राधा—(आँखों में आँखें डालकर)
महागुरु, रमणीय, प्रियवर, छवि-सुखद, मदसिन्धु मेरे,
तुम्हें पाकर भूल जातीं हम सँभार-सुधार माधव !
रात-दिन कुछ भी न जाते देख पड़ते, देख पड़ते
एक केवल तुम मनोहर। यह हृदय-लघु झील उसके
लघु-विशाल अनन्त-कम्पन, अणु-महाअणु में समाये,
निर्झरी हम तुम सरित हो; हम नदी तुम महासागर,
हम हृदय, तुम मूक कम्पन; स्नेह, जीवन, शान्ति उसकी !

विशाखा—
बहुत समझातीं हृदय को बहुत धीरज दे थकीं हम
पाठ करतीं हर घड़ी उपदेश जो पावन मिला है।
किन्तु जो जलती प्रतिक्षण (ठहरकर)—
बुझे कैसे, मिटे कैसे ?

राधा—

हम महासागर कदाचित् एक अंजलि में पियें सब,
एक अंजलि में गगन-घन पी सकें, विद्युत् निगल लें
भूधरों को चूर्ण भी कर सकें इन कोमल करों से,
और विष भी पी सकें, मर भी सकें, पर जी न सकतीं।

विशाखा—बिन तुम्हारे—

कृष्ण—

यह अवर सखि, अशुभ है अविधेय धिक् धिक्।

राधा—(निहोरे से)

कौन-सा अपमान है जो सहा मैंने नहीं घर पर,
कौन-सा आतंक है जो मिला मुझको नहीं माधव ?
कौन-सी पीड़ा जगत की जो न हँस मैंने सही है ?
पर कहाँ तक ज्वालसागर को प्रलय के पी सकूँगी ?

कृष्ण—

है न पर यह लक्ष्य मेरा जानता यह कुछ न राधे।
और तुम भी तो कुलीना कन्यका वृषभान की हो !
यह तुम्हें क्या उचित कहना, हम सभी सम वय परस्पर,
है नहीं यह प्रेम यह तो भ्रान्ति है उद्भ्रान्त जग की।

राधा—(घबराकर)

नहीं, मैं तो चाहती ही नहीं—मैं क्या चाहती हूँ,—
कौन जाने, जानती भी नहीं मन की प्रेरणाएँ।

हाय, कैसी हो गई हूँ—साध क्या मेरी नहीं—हाँ,
उबलती रहती हृदय में तप्त प्राणों की पिपासा
मन्दमन्दोच्छ्वास-धूमिल लिखा करती विधि-गगन पर
कौन-सी लिपि में न जाने, क्या न जाने रति-विरत-सी
डुबोकर मेरे हृदय के सभी रग में कामना द्रुत।
आज चंचल हो उठा है हृदय का उद्रेक सारा
उमड़ पड़ने को उदधि-सा, बिखर जाने को शिशिर-सा।
हाय, यह जीवन न जाने रोग-सा आकर लगा क्यों
ग्रहण-सा, विष-सा, विषम-सा, विरति-सा दुर्भाग्यनिधि-सा?
है न मुझ में वासना का लेश कोई, कहीं केशव!
और होती ही नहीं इच्छा हृदय में पतनकारी; —
किन्तु जाने और कुछ क्या सदा कोई खुरचता-सा,
हृदय को अंगार-सा तिल-तिल जलाता-बुझाता रह।
औ' तुम्हें पा सहस्रों शशि-किरण सरसी स्नात-सा हो
मलय-मारुत चलित-विकसित वल्लरी-सम कान्ति पाता।

कृष्ण—

अरे, यह तो क्या न जाने क्या सुनाई दे रहा है!

राधा—

कहीं भी कुछ भी न माधव, तुम्हीं केवल, तुम्हीं संबल!
(पैरों पर गिर पड़ती है।)

कृष्ण—(बिना किसी संकोच, बिना किसी अनुभूति के राधा को उठाकर।)

अरे, यह क्या कर रही हो, महा अनुचित है सखी यह,
है न मेरा लक्ष्य ऐसा, क्या हुआ तुमको न जाने !
कल मुझे प्रातः यहाँ से मधुपुरी को चले जाना,
आ गये अक्रूर लेने मुझे औ' बलराम को भी।
फिर न जाने लौटना हो या कि रहना हो वहीं पर।
यही सब-कुछ सोच अल्हड़-सा उठा तुमसे मिला आ।
नृत्य अथ संगीत को भी तो कहा था आज मैंने।

(सोचकर)

बहुत दिन हम साथ खेले, उठे, बैठे, हँसे, गाया,
हाय, कितने दिन सुखद ये सब बहुत ही शीघ्र बीता !
खेल-खाकर दिन बिताये, औ' निशाएँ नाच-गाकर
सभी अब यह स्वप्न होगा,—दूसरा है दृश्य आया।
द्वन्द्व-हीन, अदीन मैं तो कभी साहस को न खोता,
उठो, खेलो, हँसो, गाओ यही तो शैशव सुनाता।
और यह क्या लगा बैठी प्रेम-झंझट राधिके, तुम
क्या अभी ये प्रेम के दिन सखि, महा-जीवन पड़ा है।
बहुत कुछ करना जगत में तुम्हें भी, मैं तो न जाने
कर सकूँगा भी कि वे सब ठान जो मैंने लिये हैं।

(देखते हैं, राधा के आँखों में आँसू भी आ गए हैं।)

अरे, यह क्या कर रही हो, क्यों, हुआ क्या, अरे पगली !

(इतने में उद्वेग की अधिकता से वह मूर्छित हो जाती है।)

हैं, हुई हतसंज्ञ यह तो विशाखे, दौड़ो, सलिल दो।

(विशाखा, जो अपने ही आप किसी विचार में थी, दौड़कर पानी लाती है। कृष्ण इस बीच में कुछ सोचते रहते हैं। विशाखा के जल लाने पर राधा के मुख पर छिड़कते हैं। राधा कृष्ण की गोदी में संज्ञा प्राप्त करके—)

राधा—

तुम मुझे मानो न मानो मैं सदा ही—

विशाखा— अरी राधे !

कृष्ण—(पूर्ववत)

अरे पागलपन करो मत, हँसो, खेलो, इधर देखो,
मुझे अब तक कहीं कोई हुई चिन्ता ही नहीं है।
द्वन्द्वहीन, प्रमत्त मैं तो सदा चिन्ता-हीन रहता।
सामने जो आ पड़े उसको सहो साहस न हारो।
हम सभी चेतन कड़ी हैं उस समाज-विशेष के सखि,
उसे ही अच्छिन्न करते रहें यह ही सत्य-सेवा।
देश का हित भी इसीमें, इसीमें जीवन-सफलता
देखती हो कंस कैसा दुष्ट संहारक प्रजा का
और भी हैं देश के राजा अधिकतर नीच, पापी,
जिन्होंने कर्तव्य अपना नृपति का सब भुला डाला,
उन्हीं सब को ठीक करना ध्येय मेरा यही राधे !
चलो, पहुँचा दूँ तुम्हें घर, रात बीती जा रही है।

(उठने का उपक्रम करते हैं)

(राधा कृष्ण की ओर देखती रहती है, कृष्ण अपनी धुन में कहते जाते हैं। एकदम कुछ सोचकर राधा कृष्ण के पैरों पर गिर पड़ती है।)

राधा—

आज जाना है कन्हैया, आपको मैंने निकट से

(घोर कष्ट के साथ)

आपकी यात्रा सुफल हो, चलो, पाओ, सफलता प्रिय,

और अपनी क्या—

(राधा सिसक-सिसककर रोने लगती है। कृष्ण सप्रेम उसे उठा लेते हैं। विशाखा साश्चर्य कृष्ण को देखती है।)

कृष्ण—

तुम्हारा चिर सखा हूँ, विदा दो सखि !

(आँखों में नमी आ जाती है।)

बुलाता है रोम-कूपों से ध्वनित कर्तव्य मेरा।

(राधा सस्नेह कृष्ण की ओर देखती रहती है, कृष्ण राधा की ओर देखते रहते हैं।)

चौथा दृश्य

एक लम्बे समय के बाद

(पतझड़ के दिन। एक सूखे मैदान में एक फूस की कुटिया के बाहर चबूतरे पर चटाई बिछी है। राधा बैठी है—बाल बिखरे हुए, जिनमें गुलझटें पड़ गई हैं। मैला और फटा वस्त्र। चिरकाल से जिसने अपने शरीर की सुधि न ली हो, ऐसी कृश, पर सतेज स्त्री की आकृति। शोक और चिन्ता की मूर्ति। आसपास के सब वृक्ष कंकाल की तरह खड़े हैं। दक्षिण की ओर दिखाई देने वाली यमुना की धार भी बहुत संकुचित हो गई है। राधा बैठी देख रही है, पर उसकी आँखों से नहीं जाना जा सकता कि वह क्या देख रही है। दृष्टि सन्मुख होते हुए भी ध्यान न जाने किधर है। एकबारगी ही उठकर इधर-उधर घूमती है। एक ओर देखने लगती है, देखती रहती है। दौड़कर आसन के पास पड़ी वंशी उठा लाती है, और एक वृक्ष के पास खड़ी होकर एक पैर पर दूसरा पैर टेढ़ा करके जमाती हुई वैसे ही, जैसे कृष्ण वंशी लेकर बजाने के लिए खड़े होते थे, खड़ी हो जाती है। और वही पहले दिखाये गए दृश्यों के साथ का राग बजाने लगती है। बजाती है, पर देखती है वंशी वैसी बज नहीं रही है। उसमें वह माधुर्य भी नहीं है, केवल वह बोलती है—निर्जीव-सी। फिर न जाने क्या ध्यान

आ जाता है। वंशी उसके हाथ से गिर जाती है। वैसी ही खड़ी रहकर गाती है—)

(गीत)

कौन युग से पथ निरखती,
हृदय में अंगार भर कर श्वास में पीड़ा छिपाये,
प्राण का उपहार लेकर साधना में स्वर सजाए,
चल रही हूँ मैं युगों से—
युगों के पल-पग परखती।
कौन युग से पथ निरखती!
स्वर सँजोए, प्राण साधे, हृदय का दीपक जलाए,
शूल प्रतिपग, तिमिर ऊपर, तिमिर दाएँ, तिमिर बाएँ,
चली मैं पग-चाप सुनने,
चली चुप चुप पैर रखती,
कौन युग से पथ निरखती!
फूल-सा हँस झड़ चुका है हृदय का उल्लास मेरा,
सतत पतझर से घिरा-सा, अमा-सा आकाश मेरा,
कहीं भी तुमको न पाकर
आँसुओं में छवि पुलकती।
कौन युग से पथ निरखती!

(इधर-उधर देखकर और ठहरकर)

राधा—

वे गये, ऐसे गये मानो कि साँसें ही गई हों;
प्राण भी, हृत्कम्प भी, आशामनोरथ साथ ही सब।
एक ठठरी रह गई हूँ, भावहीन, निरर्थ-भाषा,
लता-स्रस्त कली ढली, मद-लुठित भ्रू, सौन्दर्य-विगलित,
सर्प-सी मणिहीन गतमद। घन-विनिःसृत दामिनी श्लथ,
लुप्त-पथ, निर्जीव, मानो वृक्ष-हीन अरण्यदावा,
शरद के घन-सी विमल जिसका न जीवन-अर्थ कोई;
क्रमरहित अप्राप्य स्वप्नों की कहानी हीन 'इति-अथ'।
रस नहीं जिसमें कहीं भी, स्वप्न भी जिसके हठीले,
हृदय कवलित, जलन भीगी, साधना-पथ से ढली-सी,
शून्य रजनी, शशिप्रभाहत, उषा सूनी, दिवस नीरस,
मैं विगत की साध-सी, जिसका न कोई पा सका पथ,
जहाँ कोई जा सका है नहीं उलटे पैर लेकर।

(कोई नेपथ्य से कहता हुआ सुनाई देता है)

'भूल री; सब भूल राधा, क्यों चली उस ओर उस पथ
जहाँ का आधार केवल एक टूटी भग्न आशा।
औ' निराशा ही जहाँ है व्याप्त जीवन में निशा में।'

राधा—(चकित होकर)

क्या कहा ? किसने कहा ? मैं भूल जाऊँ, विगत भूलूँ ?
है वही आधार जिसका, वही है जीवन-किनारा,

स्वप्न भूलें, प्राण भूलें और निज को भूल जावें ?
प्राण मेरे गुनगुनायें, हृदय का आसव सभी ले,
स्वप्न, जीवन, पल-विपल, अघ-पुण्य, कर्माकर्म, गति, यति
रति, सुरति, प्रिय कृष्ण की ले ? नहीं यह सम्भव नहीं अब।

(नारद प्रवेश करते हैं और कृष्ण भी एक वृक्ष से सटकर छिपे हुए खड़े हो जाते हैं।)

नारद—

क्या यही राधा, प्रबाधित, प्रतर्दित, पीड़ित, दुखी यों
द्वितीया के चन्द्र की-सी कान्ति जिसकी हो गई है ?

राधा—(सामने देखकर और झुककर प्रणाम करती हुई)

हो प्रणाम, महान् गायक, हाँ, वही मैं दीन राधा !

नारद—

अहह, कितना कण्टकित पथ यह तुम्हारा अहित, हितकर
क्या यही उपयोग है पीयूष जीवन का गिराना
गर्त दुख में, व्यर्थ उसके हेतु, जिसने सुधि न ली हो,
और तुमको छोड़कर यों गया जैसे जीर्ण-कन्था ?

राधा—

धन्यवाद महामुने, उपदेश आदरणीय नारद !
पर अनधिकृत को दिया, की सुधा-वर्षा अनधिकृत में।

नारद—(आश्चर्य से)

अनधिकृत क्यों, देखती हो क्या नहीं—

राधा— हूँ विवश हे मुनि,

है न मुझको ज्ञात कैसी हो गई हूँ, क्या हुई हूँ,
दिवस के लम्बे प्रहर उनकी प्रतीक्षा कर थके-से,
नित्य जाते खोजने के हेतु सत्वर, अलक्षित-गति
साँझ दे जाते मुझे जीवन-मरण में खेलने को।
मैं बिछा सम्पूर्ण चेतन, हृदय की पीड़ा दबाये,
श्वास के पथ पर उन्हें ही खोजती रहती निरन्तर,
फिर अलख-सी तिमिर रजनी बिछा देती आ निराशा
विश्व के अन्तर्हृदय में, प्राण में, विश्वास-पथ पर।
सतत उन्मुख वृक्ष मानो विहग-रव के मिस उचक कर
कभी सुनते-से दिखाते पद-ध्वनि, आहट उन्हीं की।

नारद—

क्या तुम्हें है ध्यान कुछ भी नहीं अपने मान का भी,
उस पुरुष से, जो अकेली छोड़ सब ठुकरा गया है,
औ' बसाया कहीं जाकर नया घर, शासन नया पा ?
यह सही होगा कि है वह पुत्र नृप वसुदेव का पर
नंद ने भी तो सदय बन निरन्तर पालन किया था,
औ' यशोदा ने कि जिसने प्राण से भी प्रिय समझ कर
स्वयं दुख सह सुखी उसको किया कैसा कृत्य उसका ?

राधा—

यह सभी कुछ तथ्य होगा, कदाचित् इससे अधिक भी,

किन्तु मेरे लिए तो यह प्रश्न ही कोई नहीं है।
मान औ' अपमान तो हैं द्वैत के ही रूप नारद !
कुहू में सब कुछ अलक्षित, तिमिर केवल, अन्ध केवल
इस तरह संसार में कोई मुझे मानव नहीं है,
एक वे ही पूर्व में, पश्चिम तथा उत्तर दिशा में,
और दक्षिण में, धरा, पाताल, नभ में एक वे ही !

नारद—

खो रही राधे, न जाने क्यों भ्रमित-सी व्यर्थ जीवन।
यह वयस जो मध्य दिनकर-सी प्रखर, पूर्णेन्दु-शीतल,
मधुरतम यौवन-तरी क्यों बालुका में खे रही हो !

राधा—(उसी भाव से)

यह सभी कुछ सुन लिया आभारिणी राधा महामुनि !

नारद—(उसी वेग से)

देखता हूँ, व्यर्थ ही जीवन तुम्हारा हो रहा है—
सृजन है सौन्दर्य नारी का गृह-श्री-मार्ग द्वारा।
है यही अतिकर्म उसका पति सहायक सृजन में हो !
है नहीं कन्यात्व औ' पत्नीत्व नारी रूप केवल
शुद्ध रूप महार्घ्य अभिनव विश्व में मातृत्व ही है।

राधा—

मैं नहीं कुछ जानती नारीत्व का है ध्येय कैसा,
समझ भी सकती नहीं, कह भी नहीं सकती, कहूँ क्या !

घोर रजनी में विगत के भग्न पर सर्वस्व हुति दे
प्राण का आसव चढ़ाये, स्निग्ध स्मृति का दीप बाले
खोजती हूँ क्या न पाऊँगी, मिलेंगे भी न क्या वे ?
जिधर से ऊषा हँसी थी तिमिररंजित कोण छूकर,
दैव की दृढ़ पीठ पर छल छल छलकता सौख्य घट धर,
जिधर से यह पुष्प जीवन का कली के स्मृति-पटल लिख
निज भविष्यत की कहानी. चला तारक चूमने को
और मधु मकरन्द बोझिल पवन के उन्मुक्त पथ में
डाल ढीला हो गया था हत, अनाश्रित हृदय-मर्दित !
देखती हूँ, क्या न पाऊँगी मिलेंगे भी न क्या वे !
वही जीवन-दीप नारद, हृदय, आशा, श्वास, भाषा,
पुलक, चिन्तन, कल्पना, स्वर, ध्यान, कविता, धर्म, श्रद्धा,
प्रणय वे ही, कृत्य वे ही, साधना के देव वे ही,
सभी कुछ उनमें समाया रोम रोम प्रपंच चेतन !

(आवेग की अधिकता में आकर)

वे यहाँ हैं, वे वहाँ हैं, हृदय में, विश्वास-बल में,
कुसुम-कलियों में, लता में, वृक्ष में, सरिता-लहर में,
गगन में, पाताल में, भूधर-धरा-जीवन-मरण में !

(ध्यानस्थ होकर गिर जाती है।)

कृष्ण—(एकदम दुःखाभिभूत होकर)

म्लान-कलिका दलित विधि से सत्य ही राधा हुई है !

(राधा को गिरते देखकर—)

नारद—(दुःख से)

हाय, यह क्या ?—

हुई मूर्च्छित वासुदेव, बड़े निठुर तुम ?

नारद—(घुटने टेके राधा के सामने बैठकर)

महामुनि, ज्ञानी, अमानी, भक्त, योगी सभी देखे,
जगत देखा, बहुत देखा पर न ऐसा व्यक्ति देखा ।
मैं अभी तक मानता था एक निश्छल भक्ति अपनी,
किन्तु जाना सूर्य राधा और मैं खद्योत नारद !
चला था पथ से हटाने, परीक्षा लेने कुमति, मैं
किन्तु मैंने विश्ववन्द्या आज राधा-रूप देखा ।
कहा था भगवान ने भी नहीं वैसा भक्त कोई ।

(तम्बूरे और खड़ताल पर गाते हुए)

[1]निन्दति चन्दनमिन्दुकिरणमनुविन्दति खेदमधीरम्,
व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलयसमीरम् ।
सा विरहे तव दीना राधा—
वहति चलितमिवलोचनजलधरमाननकमलमुदारम्,
विधुमिव विकट विधुन्तुददन्तदलनगलितामृतधारम् ।
सा विरहे तव दीना राधा—

---

[1] यह गीत महाकवि जयदेव के 'गीतगोविन्द' से लिया गया है ।

प्रतिपदमिदमपि निगदति माधव, तव चरणे पतिताहम्,
त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधिरपि तनुते तनुदाहम्।
सा विरहे तव दीना राधा—
ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीवदुरापम्,
विलपति, हसति, विषीदति, रोदिति, चंचति, मुंचति तापम्।
सा विरहे तव दीना राधा—

(गाते चले जाते हैं। नेपथ्य में गीत सुनाई देता है।)

वहसि वपुषि विशदे जलदाभम्
हलहतिभीतिमिलितयमुनाभम्
केशव, धृतकेशवरूप, जय जगदीश हरे!

(राधा धीरे-धीरे जागकर और आँखें बन्द कर गीत सुनती हुई दुहराती है।)

राधा—

वहसि वपुषि विशदे जलदाभम्
हलहतिभीतिमिलितयमुनाभम्
केशव, धृतकेशवरूप, जय जगदीश हरे—

(छिपे हुए कृष्ण अचानक प्रकट हो राधा का सिर उठा कर गोद में रख लेते हैं और राधा आँखें बन्द किये वैसे ही पड़ी रहती है।)

कृष्ण—(स्वर बदलकर)

ठीक है वह मोह-ममता-दया-मायाहीन, निर्दय,
भूल सब कुछ गया केशव रम गया नव विभव पाकर ?

राधा—(आँखें बंद किये उसी ध्यान में)

नहीं, ऐसा मत कहो, वे सुन रहे संसार मेरे
हृदय में बैठे हुए सखि, प्राणप्रिय राधाविमोहन !

(हंसकर)

हन्त, कैसा विशद, अद्भुत प्रेम का परिणाम देखा ?
मरण से भी घोर दुःखद, स्वर्ग से भी मधुर पावन,
वज्र से भी कठिन, मानव-हृदय से भी महत्तर यह ?
चाहिए मुझको न कुछ भी प्रेम का प्रतिदान उनके,
वे महान् विभूति, मैं लघु, वे सरित, मैं लहर उनकी;
वे गगन, मैं तारिका हूँ, वे उदधि, तूफ़ान मैं री !
वे जगत-उद्धारकर्ता, मैं चरणरज एक कणिका,;
मैं न कुछ भी चाहती हूँ, चाहती हूँ यही केवल
मूर्ति उनकी हृदय में रख, प्राण की आकण्ठ-पीड़ा
छलकती पीती रहूँ; पीती रहूँ युग-युग प्रलय तक !
है न कोई और मुझको कामना इस कामना से ।
वे नहीं होते कि जब तब कहीं भी कुछ भी न होता,
किंतु कहता कौन है वे नहीं मेरे पास रहते ?
गुनगुनाते सदा सुनती और हँसती छवि निरखती ।
विश्ववन्द्य अनिन्द्य प्रतिमा वही जीवन में विलसती
तू चली जा, जा विशाखा, छोड़ दे, छोड़ो मुझे सब
है न मेरे पास कोई प्रश्न औ' उत्तर किसी का ।

सभी भूली ज्ञान-गाथा, पिता-माता नहीं कोई।
सभी भूली, मैं न कोई किसी की केवल उन्हीं की।
अन्ध छाये, प्रलय गरजे, मुक्त वारिधि विश्व लीले
किंतु मेरा स्वर यही हो, यही ध्वनि हो, यही लय हो
राधिका के प्राण माधव, राधिका के प्राण !....

(कृष्ण की आँखों में आँसू भर आते हैं।)

कृष्ण—हा-हा,

प्रिय सखी; क्या योग्य तुमको इस तरह जीवन बिताना ?

राधा—(आँखें खोलकर) कौन, क्या तुम—?

(राधा आँखें खोलकर कृष्ण की ओर देखती है, देखती ही रहती है, देखती ही रहती है, फिर एक बार ही पगली-सी होकर कृष्ण से लिपट जाती है।)

पा गई सब स्वर्ग, सब अपवर्ग माधव !

(प्रसन्नता के अतिरेक से उठकर नाचने लगती है।)

(गीत)

मैं स्वर्ग लूट कर लाई—
जो उफन रहे थे बादल,
इन पलकों पर खाते बल,
बिजली को हृदय लगाकर,
उड़ते थे ले नव-संबल,
उन कम्पित लहरों पर चढ़,

शशि-सागरिका में न्हाई।
मैं स्वर्ग लूट कर लाई—

मैंने वह जीवन पाया,
जो नभ बनकर बिखराया,
कुछ मेघ बने, कुछ तारे,
कुछ रवि-शशि बनकर छाया।
मैं महा विश्व की छवि ले,
मोहन में आज समाई।
मैं स्वर्ग लूट कर लाई।

(इस गीत की ध्वनि बहुत देर तक गूंजती रहती है। मंत्र-मुग्ध एवं मोद-विह्वल होकर—)

कृष्ण, माधव, कृष्ण, माधव, राधिका के कृष्ण, माधव !
पा गई सब...पा गई...सब स्वर्ग....सब अपवर्ग माधव !

(फिर कृष्ण के चरणों पर गिरकर हतसंज्ञ हो जाती है। कृष्ण उसे गोद में रख लेते हैं और देखते हैं उसका शरीर निर्जीव होता जा रहा है। उसके शरीर को हिलाते हैं, 'राधा, राधा, प्रिय, राधा ! कहकर पुकारते हैं किन्तु वह नहीं बोलती। कृष्ण घबरा जाते हैं, उनकी आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बहने लगती है। राधा का शरीर सुन्न होता जाता है। कृष्ण फिर 'राधा राधा' कहकर पुकारते हैं। अन्त में स्थिर से होकर—)

कृष्ण—

यह हुआ क्या, हो गया क्या प्रेम-पावन-मूर्ति राधा,

शुद्ध मानव-तत्त्व की,—अनुराग की आकाश-सरिता
आज अन्तर्हित हुई है प्रणय-सागर में विषम के,
विषम की—सम की, मनोरथ कल्पना की शुद्ध आहुति !
मैं कहूँ कैसे कि मेरे लिये ही जीवित रही वह
और मेरे लिये ही दी महा-आहुति आज उसने !
नहीं, मैं तो उपकरण था, ध्यान था, मन था, हृदय था,
ज्ञान था, विश्वास था औ' चिन्तना, सीमा, प्रणय की
केन्द्र-सा बन गया पावन प्रणय की उपयुक्त छाया।
यह महा-सरिता प्रणय की, और मैं तट बना उसका।
अकस्मात् अजान आई कहीं से, कैसे न जाने।
यह शरद की पूर्णिमा-सी और मैं जीवन-कुमुद-सा
खिल गया सम्पूर्ण चेतन ले क्षणों को युग बनाकर।
राधिका थी और कोई नहीं केवल प्रकृति-सुन्दरि,
स्नेह की, सुख की, स्पृहा की, त्याग की अनुराग-वाणी।
राधिका थी और कोई नहीं, थी वह श्वास, विभ्रम
प्रेरणा, हेला, हँसी, मुसकान मंजुल, पूर्ण-जीवन,
—पूर्ण-जीवन वासना से हीन मानव-कामना का।
राधिका थी और कोई नहीं, केवल कली का स्मय,
पुष्प का उल्लास, विधु का हास, सरिता की तरंगें,
—जो खिला, चमका, हँसा, लहरित हुआ स्मृति-जग बनाकर
सदा ही के लिए मानव-श्वास में उन्मुक्त गति से !

वह शिला-सी, वज्रकीलित रेख-सी मनमय हुई है।
धन्य मैं, अति धन्य जननी, पिता, भ्राता, बन्धु, नागर,
धन्य व्रज की यह धरा, यमुना, निकुंजे, वाट-वीथी,
गाय-वछड़े, सखी-साथी संग पाकर हुए पावन।

(गंभीर तथा स्थितिप्रज्ञ कृष्ण राधा के मुख पर हाथ फेरते और उसके बालों को सहलाते हुए)

विश्व की अभिवन्द्य प्रतिमें, राधिके, मेरी प्रतिज्ञा
सत्य से, तप से, हृदय से, प्राण से, कृति से, सुकृति से,
कर्म से, फलप्राप्ति से, आलोक से छायानुगति-सी,
ब्रह्म से मायानुरति-सी, बद्ध हो तुम कृष्ण से सखि !
कृष्ण के सँग ही तुम्हारा नाम होगा, धाम होगा,
प्राण होगा, कर्म होगा, विभव होगा, कामना भी,
राधिके, मेरे हृदय की श्वास-भाषा-कल्पना तुम,
कृष्ण राधामय हुआ है, आज राधाकृष्णमय सब।

(धीरे-धीरे सूर्यास्त होता है। कृष्ण और राधा का रूप अन्धकार में एक हो जाता है और राधाकृष्ण की प्रतिच्छवि उसी अन्धेरे में दिखाई पड़ती है।)